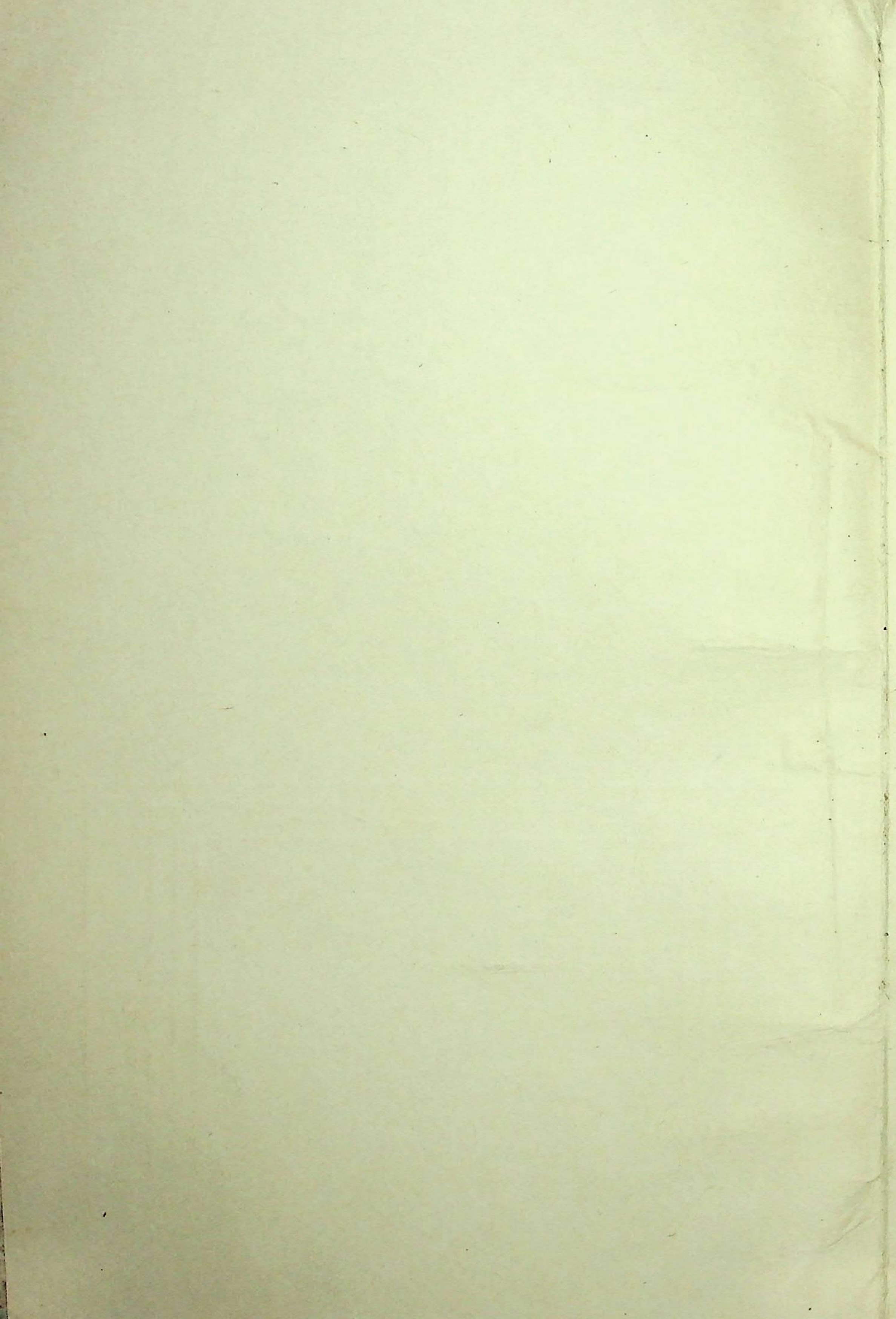
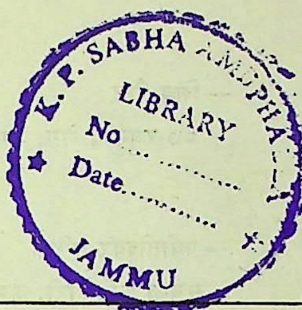
शीराज़ा







५२ शीराज़ा
द्विमासिक हिन्दी



प्रमुख सम्पादक : मुहम्मद यूसुफ टेंग सम्पादक : रमेश मेहता

वर्ष : १६ / अंक : २ (अगस्त-सितम्बर, १६८०) ; **सम्पादकीय पत्र व्यवहार :** रमेश मेहता, सम्पादक : **शीराज़ा हिन्दी,** जे० एण्ड के० कल्चरल अकादमी, नहर मार्ग, जम्मू ;

फोन : ५०४० **यह अंक :** दो रुपये **वार्षिक शुल्क :** दस रुपये

अनुक्रमणिका

———

विशेष लेख

ललद्यद—एक पुनर्मूल्यांकन

—मुहम्मद यूसुफ टेंग

यह तथ्य सर्वविदित ही है कि भक्ति धारा ने मध्यकाल में एक आंदोलन का रूप धारण कर लिया था किन्तु इस धारा का प्रादुर्भाव वहुत पहले उपनिषदों के ज़माने में हो चुका था। माना जाता है कि ललद्यद की विचारधारा के मूल में शैव दर्शन विद्यमान है। अव यदि इसको लेकर विवाद न भी उठाया जाये, एक सार्थक वहस तो की जा सकती है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि अपने भयोत्पादक किन्तु महिमामंडित रूप में शिव वस्तुत: हिन्दु अथवा आर्य देवता नहीं है वलिक उस पर द्रविड़ प्रभाव को साफ देखा जा सकता है। प्रसिद्ध भारतविद् सर जॉन मार्शल का निश्चित मत है कि आर्यपूर्व मोंहजोदाड़ो के निवासी एक ऐसे पर्वतीय देवता की पूजा किया करते थे जिसे कालांतर में हिन्दु देवस्थानों में शिव-शंकर के नाम से पुकारा जाने लगा। शिव की चेतना के मूल में शिव की वह विविधरंगी परिकल्पना है जो उसे कश्मीरी और द्रविड़ शैव मत से समान रूप से जोड़ देती है। यह आश्चर्य की बात है कि यह समानता कश्मीर की सीमा के साथ लगने वाले क्षेत्रों की तुलना में सुदूर दक्षिण में अधिक सार्थक रूप से व्याप्त प्रतीत होती है।

'तसव्वुफ' को प्राय: मुस्लिम रहस्यवादी सूफी-साधकों द्वारा प्रतिपादित चिन्तन-पद्धति के रूप में स्वीकार किया जाता है। सम्प्रति तसव्वुफ के उद्भव और विकास पर भी प्रश्नचिन्ह जड़े जाने लगे हैं। आधुनिक विद्वान इसे सामी और आर्य संस्कृतियों में निहित अंतर्द्वंद्व के साथ जोड़ने लग गए हैं। अरवी के विद्वान तो इन दो जातिगत झुकावों को "अरव" और "अजम" (अजम का अरवी भाषा में अर्थ है—गूंगा) के रूप में रेखांकित करते हैं। कुछ भी क्यों न कहा जाये, वस्तुस्थिति यह है कि धर्म के किसी भी अध्ययनकर्ता के लिए अव यह स्पष्ट हो चला है कि इस्लामी पवित्रता के स्वर्ण युग, जिसे मुस्लिम इतिहासकार बड़े गर्व से 'कुरूने-औला' कहते हैं, जिससे एक नई शुरूआत होती है, में यह निस्संदेह एक युयुत्सु किन्तु अनुशासनवद्ध आचार पद्धति थी जिसमें तसव्वुफ की प्रमुख विशेषताओं, जिनमें कल्पना की विचारहीन उड़ानें

प्रमुख हैं, के लिए न तो समय था और न गुंजाइश। वह तो अपनी विजयों और उनसे पैदा हुई राजनीतिक ध्रुवीकरण की समस्याओं को लेकर पहले से ही बहुत व्यस्त थे। जब वे आर्यों की सत्ता के केन्द्र और बुद्ध तथा जरतुस्त की विचारधारा के पोषक देश, ईरान, पहुंचे तो वहां परिस्थितियां बदल चुकी थीं। इस्लाम की मरुस्थली सार्वभौमता ने वहां अपना रूप बदलना शुरू कर दिया और उसमें आत्मपरीक्षण की प्रवृत्ति को बल मिलने लगा। अपनी विजयिनी तलवार की खुली चमक के साए में इसने एब्स्ट्रेक्ट चिन्तन की धारा का अवगाहन भी आरम्भ कर दिया। इस्लामी तसव्वुफ वस्तुतः मक्का के एकेश्वरवाद, मदायन के अलौकिक चिन्तन और मथुरा की गहरी कल्पनाशीलता के बीच एक समझौते के रूप में कारगर था।

ललद्यद अपने समय के इन उतार-चढ़ावों के केन्द्र में थी। यह एक बहुकोणीय सांस्कृतिक संघर्ष था। भौगोलिक दृष्टि से भी कश्मीर इस संघर्ष की अग्निपरीक्षा में से गुज़र रहा था। चौदहवीं शताब्दी में कश्मीर राजनैतिक और बौद्धिक विस्फोट से दो-चार था। पुरानी व्यवस्था रेत की दीवार की भांति ढह रही थी किन्तु नई इमारत अभी उसका स्थान ग्रहण करने की अवस्था में नहीं थी। ललद्यद के लिए यह समस्या निश्चय ही बौखला देने वाली थी किन्तु उसने अपनी विशिष्ट काव्य-गरिमा की सहायता से इसे सुलझा लिया था। अपने परिवेश के प्रति उसकी प्रतिक्रिया एक ऐसे कवि के समान थी जो न तो पुरातनता की ह्रासशीलता से भय खाता है और न ही नये युग के नारों से अभिभूत होता है। उसका यही उत्तरदायित्वपूर्ण रवैया उसे आजके संदर्भों में भी प्रासंगिक बनाता है।

कश्मीरी 'त्रिक्' दर्शन की व्याख्याता के रूप में लल को पर्याप्त सम्मान दिया गया है। सर जॉर्ज ग्रियर्सन और सर रिचर्ड कार्नेस टेंपल से लेकर पं० आनन्द कौल बमज़ई तथा प्रो० जियालाल कौल आदि सभी ने लल के 'त्रिक्' दर्शन की व्याख्याओं और टीकाओं पर विस्तार से प्रकाश डाला है। प्रायः यह सभी विद्वान उसे 'अभ्यस्त शिवा-योगिनी' मानकर उसका गुणगान करते हैं। यदि ललद्यद ने अपने सांस्कृतिक परिवेश से मुहावरों का चयन करते हुए एक ऐसी मनोहर धारा में जो आज पुरातत्व की वस्तु बन चुकी है, उत्कृष्टता प्राप्त न कर ली होती, तो शायद वह आज इतनी पूर्ण और प्रभावशाली न लगती।

ऐसा कहने से मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि लल का काव्य दर्शन से रहित है। उसके वाखों में धार्मिक भावना बड़ी मुखर है किन्तु इसकी मूलवस्तु मिल्टन, दांते, इकबाल और इलियट के कृतित्व में प्राप्त सम्बेदना से अलग नहीं है। लल को जो कश्मीरी शैव दर्शन उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ वह पहले से ही परिनिष्ठित दार्शनिक तत्वों से संयुक्त हो चुका था। इस मत के श्रेष्ठ प्रचारक अभिनवगुप्त के बारे में यह सर्वविदित ही है कि उस पर महान इस्लामी सूफी शायर और दार्शनिक मोही-उद-दीन-इब्ने-अरबी के विचारों का गहरा प्रभाव था जिसने नवप्लेटोवादी दर्शन का गहन अवगाहन किया था। अभिनवगुप्त मूर्तिपूजा के विरोधी थे और उन्होंने एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया था जो तत्कालीन इस्लामी उसूलों के निकट पड़ता था। ललद्यद को प्रारम्भ में ही इस प्रकार का जागरूक दार्शनिक परिप्रेक्ष्य मिल गया था। यह

अलग बात है कि अपनी रचनाओं में उस दार्शनिक प्रक्रिया को सटीक अभिव्यक्ति देने के स्थान पर उसने अपने को कलात्मक अभिव्यक्ति तक ही सीमित कर रखा था ।

ललद्यद की कविताओं का अध्ययन करते समय कश्मीरी विद्वानों और आलोचकों को एक खास प्रकार की दिक्कत का सामना करना पड़ता है । ललद्यद और उसके समकालीन अनुज कवि शेख नूर-उद्-दीन नूरानी का काव्य बहुधा एक दूसरे से घुलमिल जाता है । कश्मीर में इस्लाम के संस्थापकों में शेख नूर-उद्-दीन का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है । उसे कश्मीरी उपदेशक (काँशर वाज़खान) तथा कश्मीरी भाषा में कुरान का रचयिता माना जाता है । यह एक दुर्बोध साहित्यिक समस्या ही है कि एक शैव-योगिनी और एक इस्लामी मुल्ला की विचारधारा इतनी निकटता से समान स्तरों पर विचरण करती है कि उन दोनों की रचनाओं को एक दूसरे से अलगाना दूभर हो जाता है । यह भाषा, शैली और मूलभूत प्रेरणाओं की समानता का सीधा सा प्रश्न नहीं है बल्कि यह तो उस समन्वित संस्कृति की चेतना है जो उनकी रचनाओं के माध्यम से मुखर हुई है । क्योंकि दर्शन का प्रतिपादन उन्होंने मानवीय आधार पर किया है इसीलिए उनकी भिन्न जीवन-दृष्टियां भी उनके गीतों की एकात्मकता को भंग नहीं कर पाई हैं ।

यह तथ्य बड़ा ही रोचक है कि लल पूर्ण पुरुष की तलाश में प्रेमात्मक माध्यम अपनाती है । इस संदर्भ में लल की आदर्श पुरुष की तलाश की तुलना मौलाना रूमी की इस तलाश से करना अनुपयुक्त न होगा—

दी शेख बा चिराग हमीं गश्त गिर्दे-शहर
कज़ देव व दर्द मललम व इंसानम आरिज़ोअस्त

अर्थात् मैंने एक शेख को कल हाथों में एक चिराग उठाए शहर की सड़कों पर घूमते और यह कहते सुना था कि मैं बुरे और दुराचारी लोगों को देख देख कर परेशान हो गया हूं···अब मैं एक ऐसे आदमी को देखना चाहता हूं जो हृदय और मस्तिष्क—दोनों की विशेषताओं से युक्त हो ।

इस तलाश का अंजाम क्या हुआ···इसके बारे में रूमी ने कुछ नहीं कहा है किन्तु यह तय है कि वह एक ऐसे प्राणी की तलाश में है जो दुर्लभ हो गया है और वह प्राणी है एक ऐसा इंसान जिसमें दिल और दिमाग, दोनों की खूबियां पाई जाती हैं । यहां आकर लल की खोज एक दूसरा आयाम ग्रहण कर लेती है । लल के विषय में कहा जाता है कि एक बार जब वह सांसारिक वस्त्रों की परवाह न करके नग्न देह लिए घाटी में घूम रही थी तो अचानक मध्य-एशिया से आए सूफी साधक सैयद हमदान शाह से उसका आमना-सामना हो गया । लल ने तुरन्त अपने को एक जलते हुए तंदूर में छिपा लिया और वहां से दुल्हिनों के से कपड़े पहने हुए बाहर आ गई । जब उससे इसका कारण पूछा गया तो उसने बड़े तहम्मुल से उत्तर दिया, "मैंने पहली बार एक 'पुरुष शरीर' को देखा है । इसी कारण मुझे अपनी नंगी देह को ढकना पड़ा ।"

नग्न देह को लेकर उसकी यह चिन्ता आध्यात्मिक हो सकती है किन्तु इसमें सांसारिकता का पुट भी है। ऐसी जीवंत और प्राणवान घटना को उसके प्रस्तुत 'वाख' में वर्णित मनोदशा के साथ जोड़कर देखा जा सकता है—"मेरे गुरु ने मुझे एक ही उपदेश दिया है—बाहर से दृष्टि हटा कर अपने भीतर केन्द्रित करो। इस उपदेश का पालन करते हुए मैंने जीवन में नग्न होकर नाचना आरम्भ कर दिया।"

इस वाख की अन्तिम पंक्ति की प्रो० जिया लाल कौल ने बड़े लौकिक संदर्भों में व्याख्या की है—"मैंने घूमना शुरू कर दिया"। किन्तु ऐसी कोई भी व्याख्या न तो उसके भिन्न मतावलम्बी व्यवहार से मेल खाती है और न ही उसकी आध्यात्मिक अवस्था से। 'वाख' की ध्वनि और उसके मिज़ाज से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'नग्न' पर दिए गए बल का उस अवस्था में कोई अर्थ नहीं रह जाता जब उसे 'नचुन' (जिसका शाब्दिक अर्थ है नाचना और जिसका तसव्वुफ में प्रयुक्त होने वाले शब्द 'वजद' से भी गहरा सम्बन्ध है) के साथ जोड़कर नहीं देखा जाता। यह लल का केवल रूढ़िवादी समाज के बाह्याडम्बर के प्रति विद्रोह ही नहीं अपितु उसकी आध्यात्मिक तन्मयता का परिचायक भी है। 'नृत्य' शब्द को यदि फारसी के शायर मौलाना रूमी की इसी प्रकार की निम्नांकित पक्तियों के संदर्भ में देखा जाए तो बात कहीं ज्यादा साफ हो सकती है—

यक दस्त जामे-वादा व यक दस्त ज़ुल्फे यार
रक्से चुनीं मियानमे-मैदानं आरिज़ोआरस्त

"मेरे एक हाथ में मद का प्याला है और दूसरे में महवूब की घनी काली रेशमी अलकें··· इस भयोत्पादक और दूर-दूर तक फैले मरुस्थल में से मैं इसी प्रकार नाच करते हुए निकल जाना चाहूंगा।" यदि इस कथन से 'नृत्य' की भंगिमा स्पष्ट न हुई हो तो निम्नलिखित गीत की पंक्तियां, जिन्हें सूफी लोग 'सम्मा' अथवा भक्ति नाच के समय गाते हैं, संदर्भ को वेहतर तौर पर स्पष्ट कर सकेंगी—

तू आं कातिल कि अज बहरे-तमाशा ख़ूने-मन रेज़ी
मन आं बिस्मिल कि जेरे-खंजरे ख़ूंखार मी रक्सम

"तुम भी कैसे पाषाण-हृदय हत्यारे हो कि अपने खेल के लिए मेरा सारा रक्त ही निचोड़ लेते हो। फिर भी मैं प्रार्थनारत हूं कि तुम मुझ जैसे दोषी को देखो तो सही कि वह कैसा है कि निरन्तर तुम्हारे रक्त-पिपासु खाण्डे के नीचे नाचे जा रहा है।"

नील क्रैम कुक ने अपनी पुस्तक "दि वे ऑव दि स्वैन" में प्रतिपादित किया है कि लल ने संदर्भित वाख में शिव के ताण्डव—जो संहार का नृत्य है—की ओर संकेत किया है।

मैं पुनः उपरिलिखित 'वाख' की बात करना चाहूंगा। नृत्य की बाहरी भंगिमाएं वास्तव में उसकी भीतरी मनःस्थिति की परिचायक हैं, अर्थात बाहर से दृष्टि को हटा कर आभ्यंतर पर स्थिर कर देना—वह आभ्यंतर जो मात्र अकेलेपन की वेरंग दुनिया का प्रतीक नहीं है अपितु

इंद्रधनुष के रंगों के उस विस्तार के समान है जो अचेतन के रचनात्मक स्तरों को उद्घाटित करता है। इस संदर्भ में कश्मीरी भाषा का निम्नलिखित पद हमारा मार्गदर्शन कर सकता है—

शम्मा जाजोम हट्टि कि रत्त ये सुई गाश जुलमात प्योन
अथ जुलमातस लाल क्या छि तय।

"मैंने अपनी शाह-रग से लहू लेकर एक दीप जलाया। उसने मेरे भीतर की अंधेरी भूल-भुलैयां में प्रकाश फैलाया। ओह! इन भूल-भुलैयों में कितने सुन्दर हीरे-जवाहर पड़े हुए हैं।"

मैंने आरम्भ में ही यह संकेत दिया था कि लल की चाहना के मूल में प्रेमात्मक अनुभूति विराजमान है। यह अनुभूति रचनात्मक दबावों से पैदा होती है और उसी प्रकार पहचानी जा सकती है जैसे स्वयं रचनात्मक प्रक्रिया को पहचाना जाता है—"तुम्हें उसे रंग से भरे हुए पात्रों में खोजना होगा--यदि तुम इन अशांत उपद्रवकारी स्थितियों से पार निकल जाओगे तो उसका आलिंगन कर सकोगे। इस प्रकार तुम्हें उससे परमानन्द की प्राप्ति होगी।"

वे लोग जो लल को देशी और मिश्रित दर्शन की सीमाओं में बांध कर देखने के अभ्यस्त हैं, उन्हें चाहिए कि मिर्जा अब्दुल कादिर बेदिल के निम्नलिखित पद—जो उसका समानार्थी है—की रोशनी में यह देखने की कोशिश करें कि किस प्रकार लल की वाणी लगभग सार्वभौम हो जाती है— "मेरी विनम्र प्रार्थना है कि इस बाग में लगे विविधरंगी फूलों को अनुभव किये बिना यहां से न जाओ। शायद यह पर्दा ही है जो इन्हें सलीके से संवारने वाले हाथ को छिपाए हुए है।"

लल मानसिक स्तर पर अत्यधिक मुखर है और यही उसकी मूलभूत समस्या है। किन्तु यह उसके पलायनवादी होने का संकेत नहीं है। वह जीवन और तज्जनित आनंद से इस प्रकार जुड़ी हुई है कि घोर निराशा के क्षणों में भी जीने की उद्दाम लालसा को वह छिपा नहीं पाती। यही नहीं, वह तो जीवन को भरपूर न जी पाने के कारण दुःखी भी रहती है। कुछ आलोचक निम्नलिखित पद को उसकी इस प्रवृत्ति पर अन्तिम प्रहार के रूप में ही नहीं वरन् प्रस्थान के संकेत रूप में भी उद्धृत करते हैं। किन्तु मेरी दृष्टि में इस पद का सम्पूर्ण कथ्य और बिम्ब एक त्रासद समर्पण का द्योतक है जो उसकी सीमाओं को भी रेखांकित करता है। यह एक ऐसी त्रासदी है जो इस सारी खेदजनक योजना में अंतर्निहित है किन्तु किसी भी सूरत में इसे मोहक करार नहीं दिया जा सकता—"मेरे दीपक की डोरी ढीली हो गई है और उसके घर्षण से मेरी पीठ पर घाव हो गया है। मेरी कमर उसके बोझ तले दोहरी हो गई है। मैं इस कष्टदायक फफोले से कैसे नजात पाऊं। मेरे गुरु ने कहा था—अपनी आत्मा को पाने के लिए मुझे दुनिया को छोड़ देना चाहिए···मैं एक ऐसे रेवड़ के समान हूं जिसका कोई गडरिया नहीं रहा।"

हमें यह मानने में संकोच नहीं होना चाहिए कि लल एक रहस्यवादी (सूफी) कवयित्री है। रहमान राही ने कहा भी है, "यदि हम इस तथ्य को नहीं स्वीकारेंगे तो यह अनेक जटिलताओं को जन्म देगा।" किन्तु इस तथ्य से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि वह एक

मौलिक प्रकार की सूफी कवयित्री है। प्रायः इस प्रकार के कवि दृश्य जगत से अदृश्य की यात्रा करते हैं किन्तु लल ने इसके विपरीत आचरण किया है। वस्तुतः उसकी भावमयता उन सांचों और रूपाकारों को ग्रहण करने लगती है जो इस रहस्यमय किन्तु सुन्दर सृष्टि के दृश्यपटल का निर्माण करते हैं। मैं समझता हूं कि यही कारण है कि उसके गीत इतने निस्तेज नहीं हो जाते कि वे मौलिक किन्तु उदात्तिकृत सद्भाव को भुला दें—"मैंने अपने गुरु से हज़ार बार पूछा है कि वह जो अन्जाना है, अनाम है—उसकी व्याख्या किस प्रकार की जा सकती है। यही जिज्ञासा करते मैं थक-हार कर बैठ गई और फिर यूं लगा कि शून्य से कुछ निकलने लगा है।"

संशय और कुतूहल आधुनिक संवेदना के मूलतत्व हैं। लल अपने समय और संदर्भों को लेकर, जब रूढ़ियों का शासन था, इसी सशय को अभिव्यक्ति दे रही थी। लल अपने वाखों को इन रूढ़ियों से मुक्त नहीं रख सकती थी, रख भी नहीं सकी। किन्तु आनन्द के चरम क्षणों में वह इन बंधनों को तोड़ देती है और उस बच्चे के समान आचरण करने लगती है जो इस सृष्टि के अन्यतम रहस्यों को बड़े कुतूहल और उत्सुकता से देखता है। यह ऑब्सेशन उसकी कविता में मरीचिका का रूप ग्रहण कर लेता है और इस प्रक्रिया में वह ऐसी उत्कृष्ट रचनाओं का प्रणयन करती है जिनकी श्रेष्ठता को कश्मीरी कविता के क्षेत्र में आज तक कोई नहीं छू सका है। वह जीवन-मरण की दुविधा को लेकर व्यस्त रहती थी और जीवन-मरण की चुनौती को बड़ी वीरता से स्वीकार करते हुए ही उसने कहा था, "अनगिनत लोग आए और अनगिनत लोग चले गए…दिन और रात की लीला इसी प्रकार जारी है। हम जहां से आए थे वहीं लौट जायेंगे। और अंततः इस खेल से कुछ न कुछ तो हाथ लगेगा।"

मैंने जानबूझ कर यहां प्रो० जिया लाल कौल के अनुवाद से हट कर बात कही है क्योंकि मैं समझता हूं कि उन्होंने न केवल इन शब्दों को उससे जोड़ दिया है कि—"जीवन और मृत्यु के चक्र में सदा के लिए"—बल्कि उन्होंने उसकी कविता के सौंदर्य को भी धुंधला बनाते हुए इसे विवरणात्मकता के निम्नतम स्तर पर ला खड़ा किया है, जो उसकी अनूठी गरिमा के उपयुक्त नहीं है। अपने इसी तर्क को वह एक अन्य वाख में और आगे ले जाती है। संयोग से यह वाख प्रो० कौल के महत्त्वपूर्ण मॉनोग्राफ में उपरिलिखित वाख के तुरन्त बाद में आता है—"मैं कहां से और किस रास्ते से आई हूं, मुझे इसका तनिक भी ज्ञान नहीं है। मैं कहां और किस रास्ते से जाऊं, मुझे कुछ पता नहीं। आह! इस कष्टकारक दुविधा में से मुझे कौन उबारेगा…दिशाज्ञान के बिना जीवन एक सत्त्वहीन और दुखदायी सांस की भांति है।" मन की यह प्रतिबिम्बात्मक अवस्था 'आइवरी टॉवर' के निर्लिप्त एकांतवास में किए गए आर्त्तनाद से पर्याप्त भिन्न है। इसका उत्स पुनः उसके परिवेश में देखा जा सकता है जिसके साथ लल का गहरा लगाव है और जिसने उसकी संवेदना को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। प्रगति और ह्रास, जन्म और मरण जैसी अभूतपूर्व घटनाएं अपने आप में बड़ी विसंगत दिखाई देती हैं किन्तु लल के काव्य का विषय बनकर वह अनूठे बिम्बों की रचना करती हैं। वह स्पष्ट कहती है, "मैं देख रही हूं कि एक नदी झाग उगलती हुई उफान पर आ चली है…उफान पर आई

नदी के जल ने पुल और किनारे तोड़ दिए हैं । ···मैंने एक झाड़ी को उसके शगूफों के साथ जलते हुए देखा है···अब न तो गुलाब दिखाई देते हैं और न कांटे ही··· ।"

इस प्रकार के उलझावभरे घटनाचक्र का सामना होने पर भक्ति गीतों की शरण ग्रहण करना अचम्भित नहीं करता । इन भक्ति गीतों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में हम कुछ भी क्यों न कहें—वे अपनी शरण में आए भक्तों को मुसीबत में नहीं रहने देते हैं । अपनी अति असहायावस्था में लल भी इसी सुरक्षित से लगने वाले किले में शरण ग्रहण करती दिखाई देती है किन्तु यह उसकी सोच की धारा को कुन्द नहीं कर पाते और वह अपने मोहभंग की कथा को इन अनूठे शब्दों में कह देती है, "मैंने अपने भीतर ज्ञान की चांदनी के प्रकाश को खोजने का प्रयत्न किया क्योंकि तुम्हें उसी की तलाश है जो तुम्हारे भीतर है···वहां और कोई नहीं, सिर्फ तुम हो···तुम ही नारायण हो तो फिर इस सारी लीला का अर्थ क्या है ?"

लल ने तत्व के एक निष्ठावान साधक की भांति बहुत कुछ सहन किया किन्तु हार नहीं मानी । आह्लादकर नृत्य और घोर भटकन के क्षणों में यह खोज ही वास्तव में उसकी उपलब्धि बन गई थी । सूफी साधक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह बने-बनाए समाधानों की उपेक्षा करता है- "मैंने, यानी लल ने, उसकी तलाश की, उसे चाहा और अपनी शक्ति से भी कहीं अधिक श्रम करके मैं उसके दरवाज़ों तक पहुंची किन्तु वे बंद थे, उन पर पहरे थे···मेरी चाहना और अधिक बलवती हो उठी···फिर भी मैं केवल उन बंद दरवाज़ों को देखती अपनी अभिलाषाओं और प्रेम के बंधन में बंधी वहां खड़ी रही ।"

प्रेम की यह प्यास इतनी शाश्वत और इतनी ताज़ा है कि यह आधुनिक आदमी के लिए भी सहारा बन जाती है । यही वास्तव में लल के अनुशासित और अभूतपूर्व ढंग से पद्यबद्ध किए गए गीतों की सुन्दरतम उपलब्धि है । अपनी कठिन तपस्या के क्षणों में निःसंदेह उसकी चेतना में अपनी समकालीन विचारधाराओं के प्रति भी मोह जगा था किन्तु उर्फी शरारी के निम्नलिखित पद के तर्क के आधार पर इस आकर्षण को भली प्रकार समझा जा सकता है—

जि नुक्से-तश्ना लबी दाम व अक्ले-ख़ोश मनास
दिललत फ़रेबगर अज़ जलवा-ए-सराब न खुर्द

अर्थात अपनी आध्यात्मिक सिद्धियों पर गर्व न करो···यह तो तुम्हारी खोज में शिथिलता और लगन में कमी का संकेत है कि तुम एक जलते हुए मरुस्थल में मृगमरीचिका के प्रति आकृष्ट नहीं हुए हो ।"

———

दो कविताएं

—गंगा प्रसाद विमल

प्रतिशोध

सोचते ही लगता था दूर है
अतरिक्ष
सुदूर
जैसे ही बनायी हथेलियों से अंजुरि
उसमें कुछ नहीं था
न तर्पण के लिए
तीर्थ जल
और न फूल।

वह एक सूनापन था
नहीं नहीं…
वह अंतरिक्ष था
उतना ही खाली
आकारहीन
ठहरा हुआ…
मैंने उसे झटका
और फेंक दिया अनन्त की ओर।

यहां
दुनिया हो अच्छी है
तनावों से भरी।

——

नियति

कंचनजंघा खड़ा है
अंतरिक्ष की ओर मुंह किए
वह देख रहा
अनन्त को
मैं उसे देख रहा हूँ
और मुझे—जब टटोलता हूं
पैरों तले
कोई भी नहीं देखता
न चींटी
न कोई रेंगने वाला कीड़ा।
वह जिन्हें हम देखते हैं
शिखरवत
खड़े हो जाते हैं
रुके हुए

शिखरवत
सब अचल हैं
पहुँचे हुए लोग भी
और महत्त्वाकांक्षी भी।
वे चल नहीं सकते
……
सड़ सकते हैं।

——

कहानी

अतीत के स्वर

—भीष्म साहनी

वह बातें करता तो लगता जैसे इतिहास बोल रहा है। वह पुरातत्त्ववेत्ता था, अतीत का अध्येता। उसे अतीत से मोह था, खण्डहरों से, भग्नावशेषों से। किसी प्राचीन मंदिर अथवा खण्डहर का चित्र दिखाता हुआ वह किसी कालविशेष की चर्चा करने लगता और अतीत के धुंधलके में खो जाता। वर्तमान के सब नख-शिख आंखों से ओझल हो जाते, और वह भग्नावशेष अतीत के अंधियारे में किसी सितारे की तरह झिलमिलाने लगता, काल के प्रचण्ड प्रवाह में वह खोया-भटका खण्डहर जैसे स्थिर हो जाता, अस्तित्व ग्रहण कर लेता और उसी में से उस काल का इतिहास मुखर होने लगता। हर आये दिन वह अतीत की खोह में से मानव प्रतिभा के अनूठे नमूने निकाल कर लाता। अधटूटी मूर्तियां, मंदिरों-विहारों के मानचित्र, हस्तलिपियां—यही मानो उसकी पूंजी थी।

वह अपने साथियों के साथ, कुछ ही दिन पहले, ल–प्रदेश की यात्रा करके लौटा था, धूसर रंग के उसके कपड़ों पर धूल की परत थी, उसके मोटे तले वाले बूट, पीठ पर लाद कर ले जाने वाला गहरे हरे रंग का झोला, मानो अतीत की ही किसी खोह में से निकल कर आया है, और उसकी पलकों पर भी अतीत की ही धूल हो। अब की बार वह बड़ी जोखिम भरी यात्रा करके लौटा था, बल्कि मुश्किल से जान बचा कर लौटा था। उसके झोले में कुछ अनमोल चित्र और मानचित्र थे, जिन्हें वह बहुत संभाल कर रखे हुए था। बीच पहाड़ों में कहीं तूफ़ान आया था और वह उसकी चपेट में से सौभाग्यवश बच कर निकल आया था और उसके साथ इन चित्रों का अनमोल संग्रह भी बच कर निकल आया था। और आज वह हमें इन चित्रों के स्लाइड दिखा रहा था। उसके कमरे की दीवार पर ही, मेजिक लेन्टर्न की मदद से, एक-एक रंगीन चित्र उतर रहा था। मंदिरों-विहारों के चित्र। किसी-किसी चित्र में उस प्रदेश के लोग भी दिखाये गये थे, उनके झुर्रियों भरे चेहरे, हवाओं के थपेड़ों से जैसे उनमें दरारें पड़ गयी हों, उनकी रंगीन पोशाकें, उनकी स्त्रियों के परम्परागत आभूषण, केश विन्यास, किसी-

किसी चित्र में उनके टूटे-फूटे घर, दालानों में बंधे उनके मवेशी…उन्हें देखते हुए लगता जैसे वे वर्तमान के जीते जागते प्राणी न होकर उसी अतीत के निवासी हों जिस अतीत की वह यात्रा करके लौटा था। उन्हें देखकर आभास होता कि क्या इन्हीं के पुरखा, उन अद्भुत मंदिरों के निर्माता थे?

"महाराज लिङ् पो ने अपने शासन काल में १०८ मंदिर बनवाये थे" वह कह रहा था। "एक से एक भव्य, एक से एक सुन्दर, परन्तु आज उन १०८ मंदिरों में से केवल ६ या ७ बच रहे हैं। बाकी सब काल के गर्त में खो चुके हैं।"

पर्दे पर एक चित्र आया। पहाड़ पर खड़े किसी प्राचीन मंदिर का चित्र था। आस-पास, दूर-दूर तक फैली घाटी के बीच गर्व से माथा उठाये एक चट्टान पर खड़ा था वह। लगता जैसे किन्हीं कुशल शिल्पियों ने बड़ी-बड़ी चट्टानों को इस ढंग से काटा था कि पूरा का पूरा मंदिर, तराशा का तराशा, बीच में से निकल आया हो।

"यह घाटी सदा ही वीरान रही है।" वह कह रहा था, "पहाड़ी इलाका है। प्रकृति हर वक्त अपने तेवर चढ़ाये रहती है। न जाने ऐसे बीहड़ इलाके में इतने सुन्दर मंदिर कैसे बने होंगे। यहां अंधड़ चलते हैं, ऐसी हवाएं जो अपने थपेड़ों से चट्टानों को चूर-चूर कर डालती हैं।"

फिर वह मंदिर की बनावट समझाने लगा। "मंदिर की पीछे की दीवार ज्यादा मोटी बनायी जाती थी, उसके साथ पुश्ते बांधे जाते थे ताकि अंधड़-पानी से बची रहे। ये पुश्ते दायें-बायें, पांच-पांच फुट तक फैले भी रहते, जैसे बाहें फैलाये हों, मंदिर को अंधड़ों से बचाने के लिये।" वह बराबर मंदिर की वास्तुकला के बारे में बता रहा था कि मंदिर की बनावट पर यूनानी निर्माण कला का कितना प्रभाव है और चीनी वास्तुकला का कितना।

पर्दे पर चित्र बदल गया। उसी मंदिर को एक दूसरे कोण से दिखाया गया था। मंदिर की छत की ओर इशारा करते हुए वह कहने लगा, "यह मंदिर के पिछले भाग में बना कोष्ठक है। यहां वैरोचन की मूर्ति स्थापित है। कोष्ठक के अन्दर घुप अंधेरा होता है। लेकिन ऐन ऊपर छत पर, एक गोल, चपटी, शिला रखी रहती है यदि उस शिला को हटा दिया जाये तो कोष्ठक रोशनी से भर जाता है और मंदिर की मूर्तियां, भित्तिचित्र, अलंकरण सभी प्रकाश में खिल उठते हैं।"

और अब की बार दीवार पर कोष्ठक का दृश्य था। बहुत ही खिला खिला, पीछे वैरोचन की समाधिस्थ मूर्ति, आसपास अनेक मूर्तियां और भित्तिचित्र, नीचे पूजा-आराधना का सामान। सभी कुछ प्रकाश में चमक रहा था।

फिर एक और चित्र हमारी आंखों के सामने आया और उसे देखकर हम दंग रह गये। चित्र क्या था, कला का अद्वितीय नमूना था। उसी मंदिर के भीतरी भाग का चित्र था। दायें-बायें और सामने, दीवारों पर असंख्य छोटे-छोटे बौद्ध चित्र थे, ऊपर से नीचे तक दीवारें

इन चित्रों से ढकी थीं, मंदिर के बीचोंबीच एक वयोवृद्ध पुजारी खड़ा अर्घ्य दे रहा था, उसके हाथ में पकड़े पात्र में से सुरभित धुआं उठ रहा था, दायें हाथ की दीवार के पास एक वयोवृद्ध व्यक्ति फर्श पर उकड़ूं सा बैठा दीवार पर बने छोटे-छोटे चित्रों पर अपनी कूची चला रहा था। कोने में बड़ी-बड़ी आंखों वाला एक लड़का खड़ा मुस्करा रहा था, उसके सफेद दांतों की पांत चमक रही थी।

"यह बूढ़ा आदमी उसी गांव का रहने वाला है। गांव भर में यही एक आदमी है जो उन रंगों का रहस्य जानता है जिन रंगों से भित्तिचित्र बनाये जाते थे, यह बहुत पुराना शिल्प है। और यह लड़का भी इसी गांव का है। वह सारा वक्त मेरे साथ रहा। मैं इसके घुटे सिर और तिरछी कानी आंखों के कारण उसे नन्हा लामा कह कर बुलाया करता था…" कहते-कहते उसकी आवाज़ धीमी पड़ गयी, "तुम मानोगे नहीं, पर ये सब चित्र उस मंदिर के हैं जिसका अधिकांश भाग अब टूट चुका है और वह भाग मेरी आंखों के सामने गिरा था।" फिर वह तनिक उद्वेलित सी आवाज़ में बोला, "और सौभाग्यवश, मंदिर उस समय टूटा जब मैं अपनी तस्वीरें और उसके एक-एक भाग की पैमाइशें ले चुका था।" उसकी आवाज़ में हमें गर्व का भास मिला। "दायें हाथ की दीवारों को छोड़ कर उसका बाकी का हिस्सा ढह चुका है," उसने कहा।

"तुम भाग्यशाली हो जो इन चित्रों को उतार लाये हो। मंदिर तो नहीं बचा, पर उसकी छवि तो बच रही है। उसके गठन का पूरा विवरण तो तुम्हारे पास है। तुम उसे महाकाल के मुंह में से निकाल कर ले आये हो।"

फिर चित्र बदला। वही मंदिर फिर से चट्टान पर खड़ा था, गर्व से माथा ऊंचा किये। पीछे सुरमई रंग के छिट-पुट बादलों के टुकड़े, और बायें हाथ छोटी सी नदी के पार बसा हुआ गांव, गांव के चौकोर डिब्बानुमा घर, एक दूसरे के साथ सटे हुए। गांव नहीं, घरों का एक झुरमुट सा था। तस्वीर से भी दीन-हीन, धरती के साथ जुड़ा-जुड़ा। लेकिन मंदिर का माथा ऊंचा था, सपाट सीधा, मानो अपना प्रभुत्व जानता हो, ध्वज और पताकाओं से सजा हुआ। नीचे सारी घाटी उसके कदमों पर बिछा थी।

"ये इस मंदिर के अंतिम चित्र हैं। या यह कह लो कि इस मंदिर के अब यही चित्र बचे हैं, और बहुत कुछ समाप्त हो गया है…प्रकृति का जो रूप मैंने वहां देखा, उसी से मैं समझ गया कि लिङ् पो के बनाये १०८ मंदिर क्यों एक-एक करके धराशायी हो गये होंगे। पर मेरा सौभाग्य, मैं मंदिर के एक-एक भाग का चित्र और खाके और मानचित्र बना लाया हूं। इस पर तो पूरी की पूरी किताब लिखी जा सकती है। ये चित्र ही लाखों की सम्पत्ति हैं।" फिर वह उस भयावह घटना की कहानी सुनाने लगा।

"कुछ क्षणों में ही सब तहस-नहस हो गया।" उसने कहा, "चित्र में, नीचे की ओर यह नदी देखते हो ना। यही छोटी सी नदी यहां बहती है। जब पहाड़ों पर बर्फ पिघलती है तो इसमें पानी भर जाता है।

एक दिन मैं मंदिर के चित्र उतार कर लौट रहा था जब मैंने देखा कि गांव के बहुत से लोग नदी के किनारे चित्रित से खड़े थे। पूछने पर पता चला कि नदी में जल का स्तर नीचा हो गया है, और इसी के बारे में लोग बातें कर रहे हैं। पानी का स्तर नीचा हो जाने का मतलब था कि कहीं ऊपर पहाड़ों में पानी के बहाव में रुकावट आयी है, वह रुकावट कोई बड़ी चट्टान भी हो सकती है, बर्फ का तोदा भी हो सकता है जो अपनी जगह से खिसक गया हो। रुकावट अपने आप हट जाये तो ठीक, वरना जलप्रवाह में गतिरोध आ जाना खतरे वाली बात भी हो सकती है।

दूसरे दिन नदी में पानी का स्तर और भी नीचा हो गया। मैंने देखा कि गांव के लोग बड़े बेचैन हो उठे हैं। इसलिये नहीं कि उनके लिये अथवा उनकी छोटी-मोटी खेती के लिये पानी की कमी हो गयी थी, बल्कि इसलिये कि पानी का बहाव अवरोध को ज़्यादा देर तक बरदाश्त नहीं कर सकता। अगर पानी के बहाव को कोई और रास्ता नहीं मिला तो वह चट्टानों को तोड़ता हुआ अपने पूरे वेग से बह निकलेगा, और क्या मालूम भयंकर जलप्रपात का रूप ले ले।

"मैंने पुरातत्त्व की किताबों में पढ़ रखा था और मैं जानता था कि स्थिति विकट और गंभीर हो उठी है। मैंने फौरन ही अपना खेमा मंदिर के पास से उखाड़ा और दायें हाथ के पहाड़ पर ले गया। अगर अवरोध टूटे तो बाढ़ का जल जाने कहां से आ जाये। नदी के रास्ते से भी आ सकता है, और नदी के पाट से हट कर चट्टानों के ऊपर से ठाठें मारता भी आ सकता है। और उसका वेग इतना प्रबल होता है कि वह बड़ी-बड़ी चट्टानों को बीच में से काट कर निकल जाता है, मानो किसी ने बड़े आरे के साथ उन्हें चीर डाला हो।

मैं इस प्रदेश के भूगोल से परिचित था। दिशा का अंदाज़ लगा कर ही मैंने ऊचे पहाड़ पर, खूब ऊंचाई पर, अपना खेमा गाड़ लिया था।

तभी मैं मदिर के चित्र भी धड़ाधड़ लेने लगा। मैंने मंदिर की एक एक दीवार का मानचित्र बनाया, सैंकड़ों फोटो-चित्र उतारे, बाहर, अन्दर, मैं पागलों की तरह मंदिर में घूम रहा था। सारा वक्त मेरे कान बाहर, पहाड़ों के पीछे लगे रहते। मैंने निश्चय कर लिया था कि जितनी जल्दी हो सके मैं चित्र उतार कर ऊंचे पहाड़ पर चला जाऊंगा। यहां नहीं रुकूंगा।

मुझे इस बात का भी विश्वास था कि गांव वाले भी स्थिति को जानते-समझते हैं, वरना वे पानी के स्तर को देखते हुए इतने उद्विग्न क्यों हो उठते? वे भी निश्चय ही समय रहते किसी सुरक्षित स्थान की ओर चल देंगे।"

"तुमने बहुत बड़ा जोखिम उठाया।" हम में से एक दर्शक ने कहा, "ऐसे भी कोई करता है। मंदिर के चित्र ज़रूरी हैं बेशक, लेकिन अपनी जान भी तो ज़रूरी है। तुम्हें उसी वक्त वहां से निकल जाना चाहिये था।"

"तीन-चार दिन इसी तरह निकल गये। नदी की धार बहुत ही क्षीण और पतली हो गयी थी। मैं अपना काम समाप्त करके सीधा पहाड़ पर चढ़ गया।"

"शायद सातवां या आठवां दिन रहा होगा, जब प्रातःकाल के समय मैंने देखा कि गांव के बहुत से लोग गांव में से निकल आये हैं और मंदिर के पिछवाड़े पहुंच गये हैं, और बड़े बड़े पत्थर उठा उठा कर मंदिर की पिछली दीवार के साथ, एक के ऊपर एक, रखते जा रहे हैं, दीवार के साथ पुश्ता बांध रहे हैं। मैं अवाक् सा रह गया। गांव वाले यह जान गये हैं कि संकट का समय आ गया है, और ये मंदिर को बचा पाने के लिये पत्थरों की आड़ देने लगे हैं। उनकी श्रद्धा को देखकर मैं प्रभावित तो हुआ, पर यह श्रद्धा किस काम की जब भयंकर जलप्रपात के सामने सब कुछ ध्वस्त हो जाने का डर हो। बेशक इन्हीं के पुरखों ने यह मंदिर बनाया था, इसके साथ इनका गहरा लगाव होना भी स्वाभाविक है, पर क्या यह नहीं जानते कि सैलाब फूटा तो ये अपने को किसी भांति भी बचा नहीं पायेंगे ? गांव वालों में से कोई एक आदमी भी उस पहाड़ की ओर अभी तक नहीं आया था जिस पर मैंने अपना खेमा गाड़ लिया था। शायद वे समझते हैं कि खतरा इतना बड़ा नहीं होगा जितना मैं समझे बैठा हूं, कि जल का रेला आयेगा और चला जायेगा।

उसके अगले दिन गांव में फिर बड़ी हरकत थी। गांव के लोग कंधों पर गठ्ठर और घर का साज़-सामान उठाये बच्चों को पीठ पर लादे, लम्बी पांत में, (अपने जानवरों को खींचते) वहां से दूर जाने के बजाये, मंदिर की ओर बढ़े जा रहे थे। नदी में जल की एक पतली सी रेखा झिलमिला रही थी। अभी भी मंदिर के पीछे और आस-पास अवरोध खड़े करने का काम चल रहा था। उन्होंने पुश्ते बांधे थे, मंदिर के दोनों ओर बड़ी बड़ी नालियां खोदी थीं, मंदिर से थोड़ा हट कर अवरोध खड़े किये थे। मगर यह क्या कि गांव का गांव, अपने खच्चर और घोड़े और भेड़-बकरियां हांकता हुआ, मंदिर में घुस रहा है ? अगर सैलाब नहीं भी फूटा तो यहां कोई घातक बीमारी फूट पड़ेगी और ये लोग उसी में मर जायेंगे। मंदिर ज़रा एक चट्टान पर खड़ा था लेकिन इतना ऊंचा नहीं था कि बाढ़ आने पर बचा रह सके या इनका बचाव कर सके।

इन्हें देखकर मैं अपनी स्थिति के बारे में आतंकित हो उठा। क्या मैं इस ऊंचे पहाड़ पर भी रुक कर भूल तो नहीं कर रहा हूं ? मुझे वक्त रहते इस से भी अधिक सुरक्षित स्थान पर चले जाना चाहिये। मैंने अपनी स्थिति की फिर से जांच की, बहुत विचारा और इसी नतीजे पर पहुंचा कि मुझे इसी पहाड़ पर बने रहना चाहिये, मगर किसी सूरत में भी नीचे मंदिर की ओर नहीं जाना चाहिये, बड़े से बड़ा विस्फोट भी यहां पर मुझे नहीं छू सकता। तभी अनायास ही, एक गहरे संतोष की लहर भी मेरे अन्दर उठी। मेरे थैले में मंदिर के दर्जनों चित्र और मानचित्र मौजूद थे। मंदिर के चप्पे चप्पे के रंगीन चित्र और मानचित्र। मंदिर ढह भी जाये तो भी उसकी छवि को मैंने बचा लिया था, उसके निर्माण सम्बन्धी शिल्प का एक एक ब्योरा मेरे पास था। यह सोचकर मुझे पुलकन हुआ कि इन चित्रों के साथ मेरा नाम भी अमर हो

जायेगा। मैं न केवल प्राचीन मंदिरों का अध्येता हूं, बल्कि इस समय मैं इतिहास के उन क्षणों का भी साक्षी हूं जब एक पूरा मंदिर अपना पूरा अस्तित्व खोने जा रहा था, महाराज लिङ् पो के विश्वविख्यात मंदिरों में से बचा-खुचा एक मंदिर। जब ये चित्र छपेंगे तो उनके साथ यह विवरण भी छपेगा कि जिस दिन मंदिर काल-विगलित हुआ, उसी दिन, मंदिर के सहस्रवर्षीय जीवन के अन्तिम दिन, अमुक अनुसन्धानक ने ये चित्र उतारे थे। क्या मालूम इस चित्रमाला को मेरे ही नाम से पुकारा जाने लगे? इतिहास के पन्नों पर जहां अनेक अनुमान और किंवदन्तियां और अटकलें अटी रहती हैं, वहां पर ये प्रामाणिक चित्र भी होंगे।

तभी मेरे कानों में धीमी गहरी सी आवाज़ पड़ी। मैं सिर से पांव तक कांप उठा। मैं बड़े ध्यान से उसे सुनने लगा। नहीं, यह जलप्रपात का शब्द नहीं था। यह आवाज मंदिर की ओर से आ रही थी। मंदिर में इकट्ठे हुए ग्रामवासी प्राणरक्षा के लिये आराधना करने लगे थे। ये आराधना के शब्द थे। मैं स्तब्ध सा उन्हें सुनता रह गया। क्या इन मंदिरों के इतिहास में, हर बार, संकट के समय ऐसा ही होता आया है? क्या इतिहास का ही कोई पन्ना फिर से मेरी आंखों के सामने फट रहा है?

उस रोज़ दोपहर की पीली पीली धूप चारों ओर फैली थी और ऊपर, नीले आकाश के असीम विस्तार में कहीं कहीं चीलें पंख फैलाये तैर रही थीं। वायुमण्डल में एक अनोखी सी स्तब्धता आ गयी थी। केवल मंदिर में से आराधना के समतल स्वर बराबर सुनाई पड़ रहे थे। सारा दृश्य मुझे चित्रवत् सा लगा। मानो सब कुछ कांच का बना हो। सामने वाले पहाड़ के पीछे से गुलाबी सी प्रकाश की किरण चोटी को काटती हुई सी उतर आयी थी, पर देखते ही देखते वह भी बुझ गयी। मुझे लगा जैसे कहीं कोई तिनका भी नहीं हिल रहा है। कि यदि कुछ भी हिला तो कांच का यह दृश्य उसी क्षण चटक कर चूर-चूर हो जायेगा।

फिर दूर, बाईं ओर, पहाड़ की तलहटी पर मुझे कुछ हिलता नजर आया। बहुत ध्यान देने पर भी स्पष्ट कुछ नहीं था। पर लगा जैसे कहीं कोई गति है, कुछ हिला है और अभी भी हिल रहा है। इस बात का भी भास हुआ कि हिलने वाली चीज़ काले रंग की है, काले साये जैसी। तभी चट्टानों के पीछे से कुछ भेड़ें-बकरियां दौड़ती हुई, ढलान पर उतरने लगी थीं। उन्हीं की झलक मुझे दिखी होगी। भेड़ें भाग रही थीं।

मंदिर में आराधना के स्वर और अधिक ऊंचे हो गये थे।

जहां पहले, नीले आकाश के शान्त प्रसार में चीलें पंख फैलाये तैर रही थीं वहां अब वही चीलें, दक्षिण की ओर पंख फड़फड़ाती भागी जा रही थीं।

वायुमण्डल में तेज़ी से तब्दीली आने लगी। सामने पहाड़ पर कुछ नहीं था। केवल चोटी पर सुरमई रंग के बादलों की हलकी सी रेखा खिंच गयी थी।

तभी उस गहरे मौन के भीतर मुझे हू-हू का सा शब्द सुनाई पड़ने लगा। लेकिन इतना हलका कि मानो मुझे वहम हुआ हो।

गांव में से आने वाले लोग अभी भी मंदिर की ओर बढ़े जा रहे थे, (मवेशियों को खींच खींच कर अपने साथ हांक कर लिये जा रहे थे) मंदिर की ओर से अभी भी ऊंची आवाज़ में आराधना के स्वर सुनाई पड़ रहे थे किन्तु आराधना का वह स्वर अब निःसहाय क्रन्दन सा प्रतीत होने लगा था। मंदिर के पीछे अभी भी पत्थर जोड़े जा रहे थे। पुश्ते बांधे जा रहे थे।

कहीं किसी ओर से किसी प्रकार की सहायता की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी।

तभी, प्रकृति की विनाशकारी शक्तियों का ताण्डव नृत्य आरम्भ हो गया। एक प्रबल जलधारा, विनाश की दुंदुभि बजाती, अपने अवरोधों को तोड़ तोड़ कर फेंकती बड़ी बड़ी चट्टानों को उछालती हुई, पीछे की अंधेरी खोहों में से फूट पड़ी थी और छलांगें लगाती, घाटी की ओर बढ़ती आ रही थी।

पलक मारते दृश्य बदल गया। ठाठें मारता जलप्रपात नदी के रास्ते ही आया था। वह सीधा तीर की तरह बढ़ता आ रहा था—बड़ी बड़ी चट्टानों पर छलांगें मारता हुआ। उसकी लहरें एक दूसरी को रौंदती हुई सी बढ़ती आ रही थीं। उनका सफेद फेन नज़र आता था या फिर धूसर रंग का घुमड़ता जलप्रपात। और बस!

देखते ही देखते, सारी घाटी में पानी फैल गया। यह विचित्र बात हुई। जल-प्रवाह नदी की दिशा में ही मंदिर के पीछे से किसी अंधेरी खोह में से घरघराता हुआ निकला और दूसरे क्षण उस टीले को काटने के बाद, घाटी भर में फैलने लगा। देखते ही देखते, नदी के पार, जल ही जल का फैलाव नज़र आने लगा। क्षण भर में सारा गांव उसमें डूब गया था और शीघ्र ही टूटते घरों की लकड़ियां, बल्ले, बचे-खुचे जानवर सभी पानी में बह रहे थे। मंदिर की बायीं ओर की दीवार कट कर जलमग्न हो चुकी थी, लेकिन जल की धारा नदी की ओर बह जाने के कारण मदिर अभी भी चट्टान पर खड़ा था। मंदिर का आंगन कहीं नज़र नहीं आता था, न ही मंदिर के पीछे पुश्ते बांधने वाले व्यक्ति ही कहीं दिख पा रहे थे। एक सैलाब सा घाटी में भर गया था।

मुझे कुछ न सूझा। लरज़ती टांगों से मैं अपने खेमे में जाकर घुस गया और थर-थर कांपता हुआ अपनी खाट पर औंधा पड़ रहा।

दो दिन और दो रात तक मैं वहीं पड़ा रहा। मैं इतना साहस नहीं जुटा पा रहा था कि बाहर निकल कर बाढ़ के उस विकराल दृश्य को देख पाऊं। मैं मन ही मन जानता था कि सब कुछ समाप्त हो चुका है।

इस विनाश के तीसरे दिन मैं ऊपर खड़ा इस दृश्य को देख रहा था। कहीं कोई हरकत न थी। नीचे दूर दूर तक जैसे कीच ही कीच था और उस कीच में जगह जगह धसी लाशें, कहीं हैवानों की तो कहीं इन्सानों की। दूर दूर तक जगह जगह काले धब्बे से छितरे थे, जो इन्सानों और हैवानों की लाशें ही थीं। सारा गांव बह गया था, बच्चे, बूढ़े, मर्द, औरतें, जानवर। इन्ही में वह लड़का भी रहा होगा जिसे मैं 'नन्हां लामा' नाम से बुलाया करता था।

इन्हीं में वह वृद्ध चित्रकार भी रहा होगा जो मेरे सामने भित्तिचित्रों में रंग भरता रहा होगा और बाद में अन्य ग्रामवासियों के साथ मंदिर के पीछे पत्थर जोड़ता रहा था।

मंदिर का पूरा का पूरा हिस्सा टूट चुका था। लेकिन मंदिर की पीठ पर जोड़ी गयी शिलाओं और पत्थरों ने सचमुच उसे किसी हद तक बचा लिया था।

इतिहास में इसी भांति जलप्रपात फूटते रहे होंगे। इसी भांति कला की अमूल्य कृतियां बनती और ढहती रही होंगी।"

वह चुप हो गया। थोड़ी देर चुप रहने के बाद उसने फिर से स्लाइड बदल दी। दीवार पर फिर से उस मंदिर के भीतरी भाग की झिलमिलाती तस्वीर खेलने लगी। लाल, हरे, नीले रंगों में असख्य भित्तिचित्र, कोने में खड़ा मुस्कराता नन्हा लामा, उकड़ूं बैठा बूढ़ा चित्रकार, अर्घ्य देता बूढ़ा पुजारी···जिन में से अब एक भी नहीं बचा था।

उसने फिर चहकते हुए कहा, "यही उस मंदिर का अन्तिम चित्र है। यही उस मंदिर की रूपछवि है जिसे मैं सजो लाया हूं···"

उसकी आवाज़ में गर्व का भाव था। उसने यह चित्र हमें फिर से मानो इसलिये दिखाया था कि हम समझ लें कि इतिहास में मूल्यवान क्या है और मूल्यहीन क्या।

———

दो कविताएं

—उषा लंगर

अनामंत्रित प्राप्य

पंख मिले थे उड़ने को
पूर्व कि इसके
हो फरफराहट, कोई कम्पन
दूर-दूर तक काली घटाग्रों ने घेरा
चारों ग्रोर छाया ग्रन्धेरा ।

मुक्ति भी मिली तो दस्यु के हाथों
कि निर्दयी ने पंख तोड़
उड़ने की जिजीविषा का ही
कर दिया ग्रन्त ।

कहने को वह उन्मुक्त
निर्जीव एक चित्र सा
वसन्तागमन की प्रतीक्षा में
प्राप्त कर पाया पतझड़ मात्र—
वह एक सूने कोने का सहयात्री ।

ग्रौर ग्रब वह
ऊपर देखता भर है
उस मकड़ी को
जो स्वयं ही बुनती है जाल
ग्रपनी मुक्ति के लिए ग्रौर
नित्य धंसती जाती है निरन्तर ।

क्या यूं ही ग्रनामंत्रित पा जाते हैं हम ?
जो नहीं चाहते हैं कभी हम ।

इन्द्रधनु की स्मृति

क्षरण-क्षरण रीतते जीवन में
जब परिचय नहीं था—
किसी इकलौती किरण से
न जाने कौन भर गया
इस मैले ग्रांचल में
सुनहली किरणों का जाल ।

ग्रब तो तनता निरन्तर जा रहा है
इन तन्तुग्रों का वितान
बोझिल सांसों को
मिलने लगा है पड़ाव ।

ग्रनेक हिलोरों के साथ
स्मृति कौंधने लगी है
नख से शिख तक
होने लगा है लगातार कम्पन ।

उन मधुर क्षणों की छुग्रन
थी बहुत मादक
कि वह शाम बन गई थी इन्द्रधनु ।

ग्राज फिर पुरवा बही है
भली लगने लगी है यह गड़गड़ाहट
रिमझिम के बाद ग्रायेगा एक विराम
सच, खुले ग्रासमान में
ग्राज फिर तनेगा इन्द्रधनु ।

———

आकलन

मिथक : एक परिचय

—राजकुमार

मिथक इस दशक का सबसे अधिक विवादग्रस्त विषय रहा है। वीसवी शताव्दी में ज्ञान के लगभग सभी अनुशासनों ने मिथक को अपनी वपौती मान लिया है। अपनी अपनी सिद्धांत-पद्धतियों द्वारा इसे प्रतिपादित करने के कारण यह अभूतपूर्व विवादों से ग्रस्त हो गया है। स्थिति यहां तक पहुंच गई है कि धर्म और मिथक, कविता और मिथक, इतिहास और मिथक, पुराण और मिथक में कोई अन्तर ही स्पष्ट नहीं हो पा रहा। रेनवेलँक ने भी ऐसी ही धारणा का प्रतिपादन किया है। वह कहते हैं कि मिथक के अन्तर्गत धर्म, लोकसाहित्य, मानवविज्ञान, मनोविश्लेषण, ललितकलाएं आदि सब आ जाते हैं। जबकि वास्तविक स्थिति यह है कि मिथक परम्परागत जीवनधारा में प्रवाहित आदि-मानव की संस्कृति के बीजों की अभिव्यक्तियां हैं, जो उपर्युक्त सभी विषयों में विद्यमान हैं। रेनवेलँक ने मिथक को अनुष्ठान का उच्चरित अंश भी कहा है। इस तरह वह अपने पहले कथन का ही विरोध करते हुए मिथक का सम्बन्ध केवल मात्र धर्म से जोड़ते लगते हैं।

प्रसिद्ध इतिहासकार हार्नवी ने मिथक को जाति का आख्यान कहा है। फ्रांज़ बोआज़ ने वैयक्तिक अवचेतन तथा चेतन के झीने पर्दे पर रचित फैंटेसी को मिथक कह दिया है जबकि फ्रायड वैयक्तिक अवचेतन के झीने पर्दे पर उभरे स्वप्न से मिथक का साम्य बिठाता है। फ्रांज़ बोआज़ और फ्रायड के विचारों का संयोजित रूप युंग के विचारों में मिलता है। उन्होंने मिथक को फैंटेसी और स्वप्न की घेरेबंदियों से बाहर निकाला। वह आद्य बिम्बों को महत्व देते हैं। ये आद्य बिम्ब सामूहिक अवचेतन में विद्यमान रहते हैं और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को विरासत के रूप में प्राप्त होते हैं। यही आद्य बिम्ब मिथक, कविता, धर्म, लोकसाहित्य, ललित कलाओं आदि में आवर्तित होते रहते हैं। इन्हीं आद्य बिम्बों की कथात्मक अभिव्यक्ति मिथक में होती है। इस तरह युंग मिथक को जाति का स्वप्न मानते हैं।

पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानों ने मिथकीय संवेदना पर विचार-विमर्श किया है। भारतीय आचार्य यास्क ने पदार्थ में पिण्ड-शक्ति के साथ ही साथ उसकी अधिष्ठात्री-शक्ति की

भी कल्पना की है। इसी अधिष्ठात्री-शक्ति के कारण सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, आकाश, दिशाएं तथा वृक्ष, नदियां आदि साधारणतया मानव या मानवी रूप धारण करते ही हैं। मैक्समूलर की धारणा के अनुसार इसे प्रकृति का मानवीकरण भी कहा जा सकता है। मैक्समूलर ने तो भाषा की रुग्णता को ही मिथक कहा है, जबकि उसी के अनुयायियों ने इस धारणा का संशोधन करते हुए मिथक को भाषा का विरूपण माना है। कैसिरेर मिथकों को प्रतीकीकरण की प्रक्रिया मानते हैं, उसी की अनुयायिनी श्रीमती सूसन के० लैंगर ने प्रतीकीकरण के साथ ही साथ प्रकृति के मानवीकरण और मानव के प्रकृतिकरण को मिथक माना है। परन्तु केवल प्रतीकीकरण, मानवीकरण या प्रकृतिकरण मात्र से ही मिथक का निर्माण नहीं हो जाता, यद्यपि मिथक में ये सभी तत्व विद्यमान रहते हैं। उसेनर ने मिथकीय संवेदना के क्रमिक विकास की तीन स्थितियों की ओर संकेत किया है। क्षणिक अनुभूति से उत्पन्न देवता सम्बंधी मिथकीय संवेदना जैसे विश्वामित्र द्वारा विपाशा की स्तुति, व्यवस्थित और क्रमिक कार्यों के परिणाम से उत्पन्न देवता सम्बंधी मिथकीय संवेदना जैसे कृषि सम्बंधी आनुष्ठानिक देवताओं की स्तुति और परम दैवत्व की कल्पना के कारण उपर्युक्त दोनों स्थितियों से उत्पन्न देवताओं सम्बंधी मिथकीय संवेदना जैसे अवतारवादी भावना के अन्तर्गत विष्णु के विभिन्न अवतार-रूपों की स्तुति।

गोल्डन बो के विद्वान लेखक फ्रेज़र ने आदि-मानव की मिथक-विचारणा का वर्णन किया है। उनके अनुसार आदि-मानव में कार्य-कारण सम्बंधी अन्वेषण की भावना का अभाव था। वह प्राणों के परस्पर लेन-देन तथा रक्षण में, शाप-वरदान द्वारा प्राणों के हरण या समर्पण में, परकाया प्रवेश और काया परिवर्तन (आदमी से शेर आदि बन जाने) में विश्वास करता था। भारतीय मिथकों में अष्टसिद्धियों का वर्णन भी लगभग ऐसा ही है, जिनके द्वारा योगी आकाश में उड़ सकता है, अग्नि में तथा पानी पर चल सकता है, अधर में समाधि लगा सकता है। आदि-मानव में यह विश्वास मिथकीय संवेदना का प्रमुख अंश है। इसी मिथकीय संवेदना के सहारे आदि-मानव ने उन्हीं प्रश्नों का उत्तर ढूंढना चाहा जिन प्रश्नों का उत्तर उसकी शक्ति से बाहर था अर्थात् जातीय आकांक्षाओं और शंकाओं के हल ढूंढने का यत्न हुआ। यही कारण है कि जातीय आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला मिथकीय नायक इच्छा मात्र से सब कुछ कर सकता है। पत्थर को जीवित कर देना या पानी पर तैरा देना, वृक्षों को छूने मात्र से जीवित मनुष्यों में बदल देना, इशारे मात्र से आंधी, तूफान, वर्षा आदि देने की शक्ति उसमें रहती है। श्रीमती लैंगर इसी शक्ति को मानव का प्रकृतिकरण मानती हैं। इस तरह मिथकीय संवेदना में लोककर्म की अपेक्षा लोकभावना का प्रभुत्व है। अंधश्रद्धा तथा अतिरंजित भावमूलक संवेगात्मकता मिथकीय संवेदना को संश्लिष्ट करती हैं। मिथकीय संवेदना के मूल में जातीय आकांक्षाएं और शंकाएं होने के कारण ही मिथक जाति के स्वप्न माने जाते हैं।

मिथक की संरचना बहुत ही संश्लिष्ट होती है। इसमें अनेकानेक गठन होते हैं और हरेक गठन में अनेकानेक परतें हो सकती हैं। ये परतें परस्पर विरोधी भी हो सकती हैं और

इस तरह से निर्मित गठनों में भी परस्पर अन्तर्विरोध हो सकता है। यह अन्तर्विरोध मिथक को संश्लिष्ट बना देता है और मिथकीय पात्र को अभूतपूर्व शक्ति तथा स्वभाव-भिन्नता भी प्रदान करता है। मूलतः समान तथा असमान धर्मा कई विचारों के वाद-प्रतिवाद तथा समन्वयवाद की प्रक्रिया में से गुजर कर एक मिथकीय गठन की एक परत का निर्माण होता है। ऐसी ही कई परतों के इसी प्रक्रिया में से निकलने पर एक गठन का और कई गठनों के इसी प्रक्रिया में से निकलने पर मिथक का निर्माण होता है। मिथक निर्माण की यह प्रक्रिया सामूहिक अवचेतन में विद्यमान रहती है। यही कारण है कि कविता तथा फैंटेसी की रचना कोई भी प्रतिभाशाली कवि कर सकता है जबकि मिथक की रचना निर्वैयक्तिक होती है। कविता और फैंटेसी से मिथक इस रूप में भिन्न है। प्रतिभासम्पन्न कवि मिथक द्वारा प्रभावशाली कविता या फैंटेसी का निर्माण कर सकता है परन्तु विशिष्टतम कविता या फैंटेसी से भी वह मिथक का निर्माण नहीं कर सकता।

साधारण तौर पर मिथक के पात्रों का जन्म असाधारण परिस्थितियों में अद्भुत ढंग से, किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए वरदान या शाप के कारण होता है। ये मिथकीय पात्र मानवीय, अर्द्धमानवीय या अमानवीय किसी भी प्रकार के हो सकते हैं। असाधारण स्थितियों में जन्म लेकर असाधारण स्थितियों में पलते हैं और अदम्य साहस तथा शक्ति के कारण दुर्जेय परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करके तप तथा साधना द्वारा अतिमानवीय शक्ति ग्रहण कर लेते हैं। इसी साधना-काल में उन्हें अतिमानवीय या चमत्कारिक शक्तियों से वरदान मिलते हैं, कई बार किसी भूल या प्रमाद के कारण उसे अभिशाप भी मिलते हैं पर साथ ही अभिशाप के निराकरण की युक्ति भी मिली रहती है। इस स्थिति तक पहुंच कर मिथकीय पात्र अपने विशिष्ट स्वभाव का निर्माण कर लेता है और आत्म-प्रकाश फैलाता हुआ जीवन के सुखों की ओर प्रेरित हो जाता है। यही स्थिति मिथकीय पात्र के भविष्यत-जीवन के लिए महत्वपूर्ण प्रस्थान बिन्दु है। वह आगामी जीवन में या तो सामाजिक नियमों और जातीय आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करता हुआ जननायक बन जाता है या सामाजिक नियमों का उल्लंघन करता हुआ जातीय शंकाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला खलनायक बन जाता है। जननायक तथा खलनायक परस्पर संघर्ष के बिन्दु तक पहुंचने से पूर्व क्रमशः सद् तथा असद् शक्तियों को वश में करने की होड़ में लगे रहते हैं। जननायक अधिकाधिक लोकमान्य मूल्यों, वर्जनाओं तथा आदर्शों के पुंजीभूत प्रभाव के रूप में स्थापित हो जाता है और खलनायक की उच्छृंखलताएं, आदर्शहनन और वर्जना-उल्लंघन चरम सीमा पर पहुंच जाते हैं। इसी कारण दोनों में परस्पर संघर्ष होता है। इस संघर्ष में जननायक को बाह्य स्तर के साथ ही साथ मानसिक स्तर पर भी जूझना पड़ता है। उसका मानसिक संघर्ष साधनापरक होता है। जननायक को अभिशप्त होने के कारण प्रथमतः दुर्जेय संघर्ष में से गुजरना पड़ता है परन्तु मानसिक स्तर पर की गई साधना के वरदानस्वरूप अभिशाप मुक्त होकर वह खलनायक का वध करता है। इस तरह जातीय शंकाओं पर जातीय आकांक्षाओं की विजय होती है और

जननायक उद्देश्य की पूर्ति के उपरान्त अपनी इच्छानुसार प्राण त्याग देता है। भारतीय मिथकों के सुखान्त होने के कारण उनका प्रारूप लगभग ऐसा ही है जबकि पाश्चात्य मिथक दुखान्त होने के कारण उनके नायक को मानसिक साधना का फल नहीं मिलता और वह खलनायक द्वारा मारा जाता है या अभिशप्त हो जाता है और उसे अभिशाप से मुक्त होने का विधान भी नहीं रहता।

मिथकों का वर्गीकरण अधिकतर दो प्रणालियों से किया जाता है। स्वरूपगत वर्गीकरण में चक्रिक और रैखिक मिथक आते हैं। उद्भिद जगत में उद्भव–विकास–विनाश–उद्भव के चक्र के कारण आदि-मानव ने जन्म–विकास–मरण–पुनर्जन्म की परिकल्पना की और मिथकों का निर्माण भी इसी रूप में हुआ। इस तरह के मिथकों को चक्रिक मिथकों में रखा गया है। जहां पुनर्जन्म की परिकल्पना नहीं की गई वहां रैखिक मिथकों का विकास हुआ, जिनमें जन्म–विकास–बलिदान का क्रम रहता है। विषयगत वर्गीकरण सृष्टि के आरम्भ–विकास–विलय और पुनर्विकास का वर्णन सृष्टि विषयक मिथकों में होता है। अधिकतर ये मिथक धार्मिक सम्प्रदायों की धरोहरें होते हैं। देवी-देवता, देवी-मानव, देव-मानवी के प्रणयाचारों सम्बंधी वर्णन अथवा प्रकृति के आदि तत्व पृथ्वी और आकाश के परिकल्पित प्रणय सम्बंधों का वर्णन, देवताओं के प्रणयाचार सम्बंधी मिथकों में आता है। प्राचीन नगरों, पर्वतों, नदियों आदि के उद्भव के कारणों का मिथकीय समाधान अथवा किन्हीं देवी-देवताओं, मेलों-त्योहारों, रीति-रिवाज़ों का जन्म कब, क्यों और कैसे हुआ और उनके स्वरूप, इतिहास, पूजन विधि का वर्णन मिथकों में आता है। कर्मकाण्ड के विभिन्न अनुष्ठानों से जुड़े मिथक तथा सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों तथा निषेधों आदि के वर्णन सम्बंधी मिथक भी इसी श्रेणी में रखे जाते हैं।

संस्कृति की आधारभूत मान्यताओं, आचरण-नियमों तथा कुल-व्यभिचार, नरबलि, नरमांस-भक्षण, परस्त्री-हरण या परस्त्री-गमन आदि सामाजिक-सांस्कृतिक निषेधों को मिथकों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। इन विषयों से सम्बंधित मिथकों में देवी-देवता-राक्षस आदि मिथकीय पात्र माता-पुत्र सम्भोग अथवा भाई-बहिन सम्भोग आदि कुल-व्यभिचार, परस्त्री-गमन अथवा परस्त्रीहरण आदि निषेधित कार्यों का क्रिया-चयन करते हैं, परन्तु साधारण व्यक्ति को न तो इन कार्यों को करने की छूट होती है और न ही देवताओं के कार्य-कलापों पर टिप्पणी करने की स्वतंत्रता। इस तरह के मिथक द्विस्तरीय होते हैं। इन मिथकों का एक स्तर विरेचन की भूमिका निभाता है और दूसरा स्तर निषेध या वर्जना को सम्पादित करता है। उहाहरणस्वरूप सीताहरण में परस्त्री भोगने की भावकों की सामूहिक दमित वासना का विरेचन होता है और रावण की फलागम की स्थिति से वर्जना या निषेध का सम्पादन हो जाता है। डॉ० दिनेश्वर प्रसाद का कहना है कि वे सभी जीवन संदर्भ और स्थितियां जो संक्रमण और संकट की हैं, जिनमें आशा और आशंका का प्रखर दीर्घकालिक तथा आवर्त्तक द्वन्द्व बना हुआ है, मिथक का विषय है। रालैंड वैरथेस ने तो खेलकूद, फिल्म, राजपत्र, नारे, चुनाव, विज्ञापन एवं महानगरीय पत्रकारिता के अनुभवों को भी मिथक के विषय के क्षेत्र में रख लिया है। जबकि इनमें प्रयुक्त लोकभावना तथा मिथकीय संवेदना ही इन्हें मिथक के क्षेत्र में

आमंत्रित करती है। भारतीय स्वतंत्रतासंग्राम में बगभंग और रोलेट-एक्ट जैसे राजपत्रों ने जनमानस को मिथकीय स्तर पर आन्दोलित कर दिया था। राजनीतिक तथा सांस्कृतिक स्वतंत्रता के प्रतीक तिरंगे झण्डे को ऊंचा उठाए रखने के लिए मिथकीय स्तर पर ही लोगों ने अपने प्राणों की आहुतियां दी हैं। सामयिक संदर्भ में 'दुनिया भर के मज़दूरो एक हो जाओ' का नारा भी मिथकीय है। दृश्य-अदृश्य संसार के क्रिया-कलापों की जिज्ञासामूलक अभिव्यक्तियां मिथक का क्षेत्र हैं।

सामूहिक अवचेतन में स्थित आद्यविम्बों की अभिव्यक्तियां होने के कारण मिथक जनमानस में प्रचलित तथा प्रिय होते हैं। ये आद्यविम्ब प्रारूप मात्र होते हैं और युग संदर्भ के अनुकूल इनमें रंग भरे जाते हैं। इसलिए सामूहिक उद्‌बोधन की प्रभावशाली भूमिका निभाने के लिए साहित्यकार अपनी रचना में कहीं तो मिथकीय पात्रों का आंशिक और कहीं पूर्ण सहयोग ग्रहण कर सकता है। मिथकों की गठनों तथा परतों में परस्पर अन्तर्विरोध होने के कारण साहित्यिक को नवीन उद्‌भावनाओं का संयोजन करने की पूर्ण छूट होती है। मिथकीय प्रारूप के अनुसार वह पात्रों पर युगानुरूप आदर्शों, आकांक्षाओं और शंकाओं का आरोपण कर सकता है परन्तु इस प्रक्रिया में उसके सम्मुख एक परिसीमा अवश्य रहती है कि वह मिथकीय पात्रों तथा स्थितियों को पूर्णरूपेण परिवर्तित किये बिना नवीण दृष्टि या संवेदना से संयुक्त करे। मिथक के माध्यम से समाज की आकांक्षाओं तथा मूल्यों को उदात्तीकृत रूप में प्रस्तुत करके सामाजिक जीवन की विसंगतियों, विद्रूपताओं, असंगतियों, निरर्थकताओं और मरणधर्मा अनुभूतियों की मिथकीय व्याख्याओं द्वारा विरेचन की भूमिका निभाई जा सकती है। युगीन दृष्टि तथा आस्थाओं के प्रकाश में बिडम्बनात्मक स्थितियों पर व्यंग्य हेतु मिथक का उपयोग हो सकता है। इन तथ्यों को ध्यान में रखकर विचार करें तो प्राचीन काल से अब तक साहित्य में हुए मिथक के उपयोग को निम्नलिखित श्रेणियों में बांटा जा सकता है— (क) सद्-असद् द्वारा व्याख्या करने वाला साहित्य ; (ख) स्वच्छन्दतापरक प्रतीकों के सहारे मिथकीय प्रारूप के अनुसार सांसारिक सम्बंधों की व्याख्या करने वाला साहित्य ; (ग) मिथकीय घटनाओं तथा पात्रों के अस्तित्व की सत्यता की उपेक्षा करते हुए नवीन संवेदना तथा यथार्थ का चित्रण करने वाला साहित्य। हिन्दी साहित्य के मध्य युग में पहली श्रेणी का, छायावादी साहित्य में दूसरी श्रेणी का तथा स्वतंत्रता के बाद के साहित्य में तीसरी श्रेणी का साहित्य लिखा गया है।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने मिथक को काव्य कहा है। उनकी यह धारणा भ्रम पैदा करती है। मिथक का सत्य काव्य-सत्य जैसा होता है। काव्य की तरह मिथक में भी प्रतीक, विम्ब, रूपक तथा आवेगात्मकता होती है। काव्य की तरह ही मिथक में प्रकृति के मानवीकरण तथा मानव के प्रकृतिकरण की प्रक्रिया विद्यमान रहती है। काव्य की तरह मिथक भी गहरी सौन्दर्य-अनुभूति उत्पन्न करते हैं। काव्य और मिथक में इतना साम्य होते हुए भी मिथक काव्य से अलग अस्तित्व रखता है। काव्य में भावतत्व तथा बुद्धितत्व और औचित्य के सिद्धांत का नियमन रहता है जबकि मिथक बौद्धिक नियंत्रण से रहित, संभव-असंभव संगत-

असंगत की शंकाओं से परे आनुभूतिक अन्विति से सम्पन्न होता है। काव्य में रस-निष्पत्ति सैद्धांतिक नियमों के अनुसार क्रमिक और नियंत्रित होती है जबकि मिथक में रस-निष्पत्ति की स्थितियां असंतुलित, बिखरी तथा असंगत होती हैं। वैसे भी काव्य का उद्देश्य रसोद्रेक है जबकि मिथक का उद्देश्य किसी सामूहिक शंका तथा सामूहिक आकांक्षा का चित्रण मात्र है। अपनी स्वरूपगत विशेषताओं के कारण मिथक काव्य की अपेक्षा हमारी सश्लिष्ट मानसिकता को अधिक उद्घाटित करते हैं। युग की धारणा पर भी मिथक को कविता से अलगाया जा सकता है। कविता और मिथक दोनों में ही आद्यबिम्ब प्रयुक्त होते हैं, फिर भी मौलिक मिथकों की सर्जना में सार्वकालिक-सार्वभौमिक-निर्वैयक्तिक-सामूहिक अवचेतन के क्रियाशील रहने के कारण मिथक के आद्यबिम्ब आवर्त्तनशील तथा अशेष अर्थवत्ता से सम्पन्न होते हैं जबकि काव्य में प्रयुक्त आद्यबिम्ब वैयक्तिक अवचेतन तथा चेतन और आंशिक सामूहिक अवचेतन से सम्पन्न होते हुए भी स्थिर होते हैं और एक बार प्रयुक्त होकर अपनी अर्थवत्ता गंवा देते हैं।

मिथकीय काव्य की आलोचना काव्य की परम्परागत आलोचना पद्धतियों से नहीं की जा सकती। बल्कि मिथकीय काव्य में प्रयुक्त मिथकीय गठन की प्रत्येक परत को उघाड़ कर उसका विश्लेषण करने की आवश्यकता रहती है। प्रत्येक परत में वाद-प्रतिवाद से समन्वयवाद तक की प्रक्रिया होने के कारण मिथकीय काव्य की प्रकृति द्वन्द्वात्मक हो जाती है। इसलिए मिथकीय काव्य की हरेक परत को द्वन्द्वात्मक विश्लेषण पद्धति से ही परखा जाना चाहिए। इस आलोचना पद्धति में आलोचक में कल्पना, चिन्तन तथा सामाजिक-इतिहास के ज्ञान की प्रखरता आवश्यक है। मिथकीय काव्य का उद्देश्य रसास्वादन की अपेक्षा किसी विचार विशेष अथवा संवेदना को प्रतिपादित करना होता है। अतः मिथकीय काव्य का मूल्यांकन ठोस वस्तुनिष्ठ आधार पर होना चाहिए। मिथकीय संवेदना आवेगात्मक होने के कारण इस काव्य में विचार-स्थान-समय की अन्विति की अपेक्षा आनुभूतिक अन्विति की परख आवश्यक है। मिथक का क्षेत्र लोककर्म की अपेक्षा लोकभावना में है, लोकभावना विकासशील होती है, इसलिए मिथकीय काव्य में इसी विकासशील अनुभूति की परख आवश्यक है। इसी अनुभूति के द्वारा हम मिथकीय काव्य के भाव-क्षेत्र में पहुंचते हैं। वस्तुतः भाव-क्षेत्र को ही यह काव्य उद्वेलित करता है। इस काव्य के माध्यम से तत्कालीन समाज की मानसिक स्थिति को परख सकते हैं और तत्कालीन संवेदना के आधार पर इस काव्य का तुलनात्मक अध्ययन भी किया जा सकता है। मिथकीय काव्य में परम्परागत कथा अभिप्रायों का आवर्त्तन नहीं होता बल्कि मिथकीय स्थितियों—आधारभूत मान्यताओं तथा आधार वाक्यों—का संयोजन होता है। अतः कवि द्वारा इन आधार वाक्यों या स्थितियों के किए गए निराकरणों की तुलनात्मक समीक्षा की जा सकती है। उदाहरणस्वरूप कैकेयी द्वारा राम वन गमन का वर मिथकीय स्थिति है। तुलसीदास ने इस स्थिति का निराकरण दैवेच्छा के रूप में किया है तो साकेतकार ने नारी स्वभाव के रूप में। जबकि साकेत-संतकार ने उस वचन द्वारा इस स्थिति का निराकरण किया है जिसके अनुसार कैकेयी-पुत्र ही दशरथ के राज्य का उत्तराधिकारी बनाया जाना था।

———

मेरा शहर

—महाराज कृष्ण संतोषी

मैंने देखा—
कुछ खरोंचें
मेरी देह पर उभर आई हैं
और स्वयं से पूछा
क्या मेरे शहर के
नाखून उग आये हैं ?

जब सवेरे
सूरज निज किरणों का
बिगुल बजाता है
मेरे इस शहर में
युद्ध का सा कोहराम
मच जाता है
घर-शिविरों के द्वार
खुल जाते हैं
चीखों और चीलों से
आकाश छलनी हो जाता है !

सुना है—
मेरे इस शहर में
हर शाम मरघट सुलगता है !
सुना है—
यह शहर हर रात
दर्द में सिसकता है !

मैं जानता हूं
विशाल वक्षस्थल
और देवदार के समान ऊंचे कद वाला
मेरा यह शहर
तपेदिक के मरीज़ सा
भीतर ही भीतर कितना खोखला हो चुका है
और बाहर
इसका पाउडरपुता चेहरा
एक वेश्या सा
कितना छकाता है…
मैं जानता हूँ !
हां ! सिर्फ मैं ही जानता हूँ ।

———

कहानी

समझौता

—दीदार सिंह

आरती को नहीं मालूम था कि ऋषि जी उसे कहां लिए जा रहे हैं। जब वे उसे "सर गंगा राम विधवा आश्रम" में ले गये तब वह पूछ ही बैठी—

"आप मुझे यहां क्यों लाए हैं ?"

"मैंने सोचा यहां दूसरी औरतों के साथ आपका दिल बहल जाएगा।" ऋषि जी ने उत्तर दिया। असल में वे सीधे मुंह नहीं कहना चाहते थे कि मैं तुम्हें विधवा आश्रम में छोड़ने आया हूं।

"आप मुझे अपने पास ही रहने देते तो मैं आप पर बोझ तो न बनती। लोगों की चौका-बुहारी करके अपना पेट भरने को तो कमा ही लेती।" आरती ने यह सोचकर कहा कि ऋषि जी उसके खर्च से घबरा कर उसे विधवा आश्रम में छोड़े जा रहे हैं।

ऋषि जी बोले—"नहीं-नहीं यह बात नहीं देवी। वास्तव में आपके मेरे पास रहने से, आप जानती हैं लोग कैसी-कैसी बातें बना सकते थे। मैं आपके लिए कोई वर ढूंढूंगा जो आप से विवाह कर ले, तब तक आप यहीं रहें।"

"विवाह ! अब मुझ से कौन करेगा विवाह ?"

ऋषि जी को ऐसा लगा मानो आरती ने उन्हें चुनौती दी हो। लेकिन वे कुछ नहीं बोले। फिर चलते समय उन्होंने कहा—"मैं कभी-कभी आपको मिलने आ जाया करूंगा। यदि किसी वस्तु की आवश्यकता हो अथवा कोई कठिनाई हो तो मुझे बता दिया करना।"

आरती ने आगे से कोई उत्तर नहीं दिया। वह ऋषि जी के इन शब्दों को तौल रही थी कि सचमुच ही वे उसकी कोई आवश्यकता पूरी कर सकते हैं।

फिर चलते समय एक बार सरसरी नजर से उन्होंने आरती की ओर देखा। आरती की आंखों में प्रार्थना और बेबसी थी।

वापसी पर वे सोचते जा रहे थे कि आरती को विधवा आश्रम में दाखिल करवा कर उन्होंने अच्छा किया या बुरा। अब इसके सिवा उनके पास और कोई उपाय भी नहीं था।

कल जब वे आरती को अपने घर लाए थे तो रात को घर नहीं गये थे—गुरुकुल में ही कहीं पड़े रहे। प्रातः जब वे स्नानादि करके पूजा-पाठ करने घर पहुंचे तो आरती सहमी सी बैठी हुई थी। पास ही एक दीपक टिमटिमा रहा था।

"आप सोई नहीं ?" उन्होंने आरती से पूछा था।

"मुझे डर लगता था। मैं सारी रात आपकी प्रतीक्षा करती रही।"

आरती की नींद से भरी आंखें उसके सच बोलने का प्रमाण दे रही थीं।

"अच्छा आज मैं प्रबन्ध कर दूंगा," ऋषि जी ने कहा था।

क्या प्रबन्ध कर देंगे—आरती यह पूछने का साहस नहीं कर सकी थी। फिर वह भी उठकर गंगा में स्नान करने चली गई थी।

अब जब ऋषि जी उसे विधवा आश्रम छोड़ कर आए तो उसे अपने प्रातः के प्रश्न का—जो वह पूछ न सकी थी—उत्तर मिल गया था। यही वह प्रबन्ध था जो ऋषि जी ने प्रातः सोचा होगा। जब ऋषि जी उसे घर से लेकर चले थे तब भी उसने नहीं पूछा था कि वे कहां जा रहे हैं।

आरती के प्रश्न को हृदय के एक कोने में रखकर ऋषि जी ने सीधा अपने दफ्तर का रास्ता लिया। आज उन्हें बार बार तेज सिंह की याद आ रही थी।...



तेजसिंह का जन्म देहरादून के एक सम्पन्न घराने में हुआ था। ज़मीन-जायदाद बहुत थी और दो लीचियों के बाग भी थे। माता-पिता ने बड़े चाव से और पूरी शान-व-शौकत से तेजसिंह का विवाह किया और उसे बहुत सुन्दर सुशील दुल्हन ला दी। अपनी पत्नी से वह बहुत प्यार करता था। एक पल भी उससे जुदा न रह सकता। तेजसिंह के दो भाई सेना में भरती हो गये थे लेकिन वह ऐसा पत्नी के प्रेम-पाश में बन्धा कि उसने कहीं जाकर नौकरी करने का इरादा छोड़ दिया। उसने अपनी खेती-बाड़ी और बागों की देख-रेख का काम संभाल लिया। इस प्रकार वह सदैव अपनी पत्नी के समीप रह पाता था।

लेकिन उसकी ये खुशियां देर तक टिकी न रह सकीं। विवाह के दो वर्ष बाद तेजसिंह की पत्नी एक लड़के को जन्म देकर स्वयं परलोक सिधार गई। तेजसिंह के लिए यह असह्य आघात था। पत्नी की जुदाई ने उसे पागल-सा बना दिया। अभी पत्नी की चिता की राख ठंडी भी नहीं हुई थी कि उसका बच्चा भी मां के अभाव में दम तोड़ गया।

तब तेजसिंह की हालत देखी नहीं जाती थी। वह इतना दुःखी हुआ कि उसे जीवन से विराग-सा हो गया। "रिश्ते-नाते, धन-दौलत, जायदाद—ये सब मोह के फन्दे हैं और दुःख

का मूल कारण हैं" उसने सोच लिया। उसका दिल बहलाने के कई प्रयास किए गये लेकिन सब व्यर्थ। अन्त में उसने अपने हिस्से की ज़मीन-जायदाद अपने भाइयों में बांट दी और स्वयं मन की शान्ति प्राप्त करने के लिए गुरुकुल आश्रम पहुंच गया।

चलते समय मां ने कहा था, "बेटा मैं तेरी अच्छी-से-अच्छी लड़की के साथ शादी करवा देती हूं। तुम हां करो तो लड़कियों की कमी नहीं।"

लेकिन तेजसिंह ने इस माया-जाल से छुटकारा प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। उसने मां की एक नहीं मानी और सभी को रोते छोड़कर वह गुरुकुल आश्रम में आ गया।

गुरुकुल के शान्त वातावरण ने उसे बहुत प्रभावित किया। वहां उसे दफ्तर में क्लर्क रख लिया गया। वह नौकरी भी करता और साथ ही अपना पूजा-पाठ भी जारी रखता। आश्रम में ही उसे एक कमरा रहने को मिल गया था। वह प्रातः कोई चार बजे उठता, गंगा में स्नान करता, फिर अपने कमरे में आकर पूजा-पाठ में जुट जाता। काफी देर तक वह सन्ध्या तथा वेद-मन्त्रों का जाप करता रहता। बाद में बिना नाश्ता किए ही वह दफ्तर चला जाता। दोपहर को वहां आश्रम में भंडारे में ही खाना खाता और उसके लिए अपने वेतन से पैसे कटवाता। वह एक ही समय खाना खाता था। रात को बाज़ार से ही दूध पीकर घर चला जाता और ज़मीन पर सो जाता।

उसने अपने कमरे में छोटे से एक घड़े के अतिरिक्त और कोई बर्तन नहीं रखा था। एक-आध धोती, कुर्ता और नीचे बिछाने को एक दो वस्त्र—बस यही उसकी जमा पूंजी थी। पानी के अतिरिक्त कमरे में खाने-पीने की और कोई वस्तु नहीं थी।

उसका यह सादा जीवन देखकर और पूजा-भक्ति को देखकर आश्रम के लोग उसे "ऋषि जी" कहने लगे थे। सफेद धोती और सफेद कुर्ता पहने, पीछे को लंबी शिखा छोड़े—जिसके आगे गांठ लगी होती—वह जिधर से निकलता तो लोग "ऋषि जी" कह कर प्रणाम करते।...



जब भी कोई पूजा-पाठ का समारोह होता अथवा हवन-यज्ञ होता उसमें 'ऋषि जी' बढ़चढ़ कर भाग लेते। वे आश्रम के वातावरण से कुछ ऐसे घुल-मिल गये थे कि उन्हें अपना गृहस्थ जीवन भूल सा गया था। ईश्वर के प्रति सच्ची लगन और भक्ति में उनके मन को शान्ति मिलती।

इसी प्रकार कई वर्ष बीत गये। फिर क्या हुआ कि गंगा नदी में बाढ़ आ गई और कांगड़ी गांव पानी में डूब गया। तब इन्जीनियरों के परामर्श पर आश्रम का स्थान बदलना पड़ा और गुरुकुल आश्रम कांगड़ी गांव से हरिद्वार के पास आ गया। लेकिन नया-नया स्थान परिवर्तन होने के कारण अभी आश्रम के लिए मकानों की कमी थी। जिन लोगों को पहले

रिहायशी मकान मिले थे उन्हें अब शहर में किराए पर मकान ढूंढने पड़े। ऋषि जी ने भी आश्रम से कोई डेढ मील दूर कनखल में एक कमरा किराए पर ले लिया और अपने उसी क्रम से रहने लगे।

उनके पड़ोस में एक बंगाली रहता था जो मेहनत-मज़दूरी करके अपना तथा अपनी विधवा बहन का पेट पालता था। एक दिन वह बंगाली बीमार पड़ गया। एक पड़ोसी के नाते ऋषि जी उसका हाल पूछने चले जाया करते और कभी-कभी दवा-दारू भी ला देते। धीरे-धीरे उस बंगाली के प्रति ऋषि जी की सहानुभूति बढ़ती गई और बंगाली को भी उन पर भरोसा होने लगा। लेकिन बेचारे का रोग उसका पीछा नहीं छोड़ता था। वास्तव में रोग कम था लेकिन चिन्ता अधिक थी—और चिन्ता भी अपनी नहीं अपितु अपनी विधवा बहन की। इसलिए उसकी हालत दिन-प्रतिदिन गिरती ही गई। उधर इलाज के पैसे भी खत्म होते जा रहे थे।

एक दिन शाम को जब ऋषि जी उसका हाल पूछने गये तो वह रो पड़ा। फिर उसने ऋषि जी का हाथ अपने हाथों में दबा कर कहा—"ऋषि जी! आज मैं आप से कुछ मांगना चाहता हूं, आप मुझे निराश तो न करेंगे?"

"जो कुछ मेरे पास है वह हाज़िर है, तुम निश्चिन्त होकर कहो", ऋषि जी ने उत्तर दिया।

"लेकिन मैं इससे भी बड़ा कुछ मांगना चाहता हूं।"

"यदि मेरी सामर्थ्य में होगा तो तुम्हें निराश नहीं होना पड़ेगा।"

"तो मुझे वचन दीजिए कि मेरे मरने के बाद आप मेरी बहन का ख्याल रखेंगे।"

ऋषि जी सोच में पड़ गये। जिस माया-जाल को तोड़ कर वे आए थे और जिसकी याद तक भुला चुके थे—वही माया-जाल अब एक नया रूप धारण करके उनके सामने आ गया था।

उनकी यह खामोशी देखकर बंगाली फिर बोला—"मैं केवल आप पर ही भरोसा कर सकता हूं, इसीलिए मैंने आप से ही याचना की है। मैं सोचता हूं मेरे बाद बेचारी न जाने कहां-कहां भटकती फिरेगी। आप उस अबला को भकटने से बचा सकते हैं। आप उसे शरण देने का मुझे विश्वास दें तो मेरे प्राण आसानी से निकल सकेंगे।"

बंगाली ने ऋषि जी से एक अबला के लिए आश्रय ही नहीं मांगा था, अपितु उनका वर्षों का तप-त्याग भी मांग लिया था लेकिन 'रघुकुल रीति' के अनुसार ऋषि जी उसे निराश भी नहीं कर सकते थे। उन्होंने कहा—"भगवान ने चाहा तो तुम ठीक हो जाओगे। तुम्हें अपनी बहन के प्रति चिन्तित होने की ज़रूरत नहीं। मैं वचन देता हूं कि मैं तुम्हारी बहन के प्रति अपने दायित्व को पूरी तरह निभाऊंगा।"

और कुछ दिनों के बाद वह बंगाली मर गया। तब अपना वचन निभाते हुए ऋषि जी उसकी बहन आरती को अपने घर ले आए। अब वे उसकी आर्थिक सहायता तो कर सकते थे लेकिन उसे अपने पास नहीं रख सकते थे। इसीलिए उसे विधवा आश्रम में छोड़ आए। आज दफ्तर में वे दिन भर कोई काम नहीं कर पाए। जब कोई फाइल खोलते तो उसमें आरती दिखाई देने लगती। दिन भर इसी प्रकार वे असमंजस में पड़े रहे।

शाम को जब वे दफ्तर से घर लौटे तो आरती का प्रश्न फिर उनके सामने विकराल रूप लेकर खड़ा हो गया।

"वह कब तक विधवा आश्रम में पड़ी रहेगी? चालीस वर्षीय प्रौढ़ा से अब कौन विवाह करेगा? स्त्री को पुरुष के आश्रय की आवश्यकता होती है जो पग-पग पर उसकी संरक्षा कर सके और जिसकी छत्र-छाया में वह सर ऊंचा करके जी सके। क्या मैंने अपने वचन को निभाया है?" ऐसे कई प्रश्न ऋषि जी के मन में उठने लगे।

फिर उनके सामने आरती की वह आकृति आ गई जो उन्होंने विधवा आश्रम से आते समय देखी थी—प्रार्थना करती हुई बेबस और मौन आंखें। वे मोटी-मोटी आंखें और लम्बे बिखरे बाल—ऋषि जी की आंखों से ओझल नहीं हो पाते थे।

इसी प्रकार सोचते-सोचते तीन महीने बीत गये लेकिन ऋषि जी कोई निर्णय न कर सके। इस बीच वे आरती को मिलने भी नहीं गये।

फिर एक दिन क्या हुआ कि बसन्तपंचमी के दिन उन्होंने आरती से विवाह कर लिया और स्वयं जाकर गुरुकुल आश्रम में मिठाई बांटी।

लेकिन उनके विवाह पर सारे आश्रम में खलबली मच गई। लोग तो गृहस्थ छोड़ कर संन्यास लेते हैं लेकिन ऋषि जी संन्यास छोड़ गृहस्थी बन गये। किसी ने कहा—"उल्टे बांस बरेली को"। कोई बोला—"यह घोर अनर्थ है" और किसी ने ऋषि जी को ढोंगी, पाखंडी भी कहा। एक तो विधवा से विवाह, वह भी चालीस वर्षीया प्रौढ़ा से—और फिर किसी और का नहीं बाणप्रस्थ ऋषि जी का। ऋषि जी जैसे त्यागी-तपस्वी से ऐसी आशा किसी को नहीं थी।

आश्रम के स्नातकों, शिक्षकों तथा प्रबन्धकों में अजीब कानाफूसी शुरू हो गई। कुछ लोगों ने ऋषि जी को आश्रम से निकालने का प्रस्ताव रखा। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति के पूछने पर ऋषि जी का एक ही उत्तर होता—"यदि किसी अबला को आश्रय देना अधर्म है तो मैं अधर्मी ही भला।"

अब ऋषि जी भंडारे में भोजन नहीं करते थे। रसोई के कुछ आवश्यक बर्तन खरीदे। दो कमरों वाला मकान किराए पर लिया और आरती उनके लिए घर में ही खाना बनाने लगी। अब भी दोनों ज़मीन पर सोते थे।

विवाह के दिन ही जब ऋषि जी आरती को घर लाए थे तो उन्होंने उससे स्पष्ट कह दिया था—"हमारे सम्बंध अब भी वैसे ही रहेंगे जैसे पहले थे। हम केवल लोगों की नजरों में पति-पत्नी हैं, क्योंकि बिना विवाह के मैं तुम्हें अपने पास नहीं रख सकता था। अब तुम पर कोई उंगली नहीं उठा सकेगा।"

उसी दिन से दोनों अपने-अपने कमरे में रहने लगे। ऋषि जी ने अपने कमरे में हवन-सामग्री आदि तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थ रखे थे। और आरती के कमरे में भगवान श्री कृष्ण, दुर्गा माता तथा कुछ अन्य देवी-देवताओं की मूर्तियों को एक कोने में सजाया गया था। प्रातः उठकर दोनों ही अपने-अपने विधि-विधानों के अनुसार पूजा-पाठ करते थे—दो मन्दिरों के पुजारियों की भांति एक-दूसरे से परिचित होकर भी अपरिचित रहते। केवल खाना खाते समय उन्हें एक-दूसरे के अस्तित्व का आभास होता, या फिर घर से बाहर वे पति-पत्नी की भूमिका निभाते। कई बार आरती का मन चुपके से उठकर ऋषि जी के कमरे में चला जाता—तो आरती को ऐसे लगता मानो वह चोरी छुपे किसी के घर में घुस गई हो। तब तक वह अपने मन को अपराधियों की भांति पकड़ कर वापस ले आती। लेकिन ऋषि जी की अनुपस्थिति में उसका मन फिर भी—अनजाने में ही—उनके पांवों की आहट सुनने की प्रतीक्षा में रहता। तब भी आरती अपने मन के कान मरोड़ कर उसका ध्यान दूसरी ओर लगा देती। इस प्रकार आरती और ऋषि जी ने जीवन से समझौता कर लिया था।

———

मेरे ही दोनों पंजे मेरी गर्दन दबाए जा रहे हैं
इसलिए शरीर से
बाहर निकल कर ही मुक्ति के विषय में
निर्णय किया जा सकता है।

—राजकमल चौधरी

रक्त का ज्वार

—रमेश कुमार शर्मा

विकम्पित शंठ-जवास समूह
गगन - गम्भीर - घनाकुल - घोष,
क्षिप्र केहरि क्रुद्धान्ध समान
पलायन - गत मृग - क्लीव करोड़।

हहरगति गंग भयंकर भार
वहन रत, मुक्त कपिंजल केश,
समुत्थित दृढ़ पग भीमाकार
नभोन्मुख धूर्जटी अनिमेष।

लुब्ध - पापी कर डालो नित्य
सजग सात्विक निःशेष विवेक.
थरथरा कर फिर डह - डह जाय
दुष्ट मन के गर्हित परिवेश।

काट कर विगलित अन्ध प्रकोप
तिमिर के पर्त्त पर्त्त को छेद,
अचानक कड़क उठे उद्दाम
तड़ित का भास्वर पूत प्रवेग।

नसों में उष्ण - रक्त का ज्वार
कण्ठ में ध्वनित वज्र निर्घोष,
लौह-निर्मित अविजित भुज-दण्ड
भविष्यत को करत. निर्मोह

मुट्ठियों में सिमटा संसार
जगति का हरने संचित-शोक,
उठो तुम वीर - जननि सन्तान
त्याग द्विविधा प्रमाद निर्मोक।

———

मीरा स्मरण

बादर देखि डरी

—डॉ० राम जी तिवारी

कान्ताभाव से मधुर रस की साधना करने वाले वैष्णव कवियों ने अगम-अगोचर-अरूप ब्रह्म के स्थान पर, लीलाकामी सगुण-साकार ईश्वर की उपासना की है। मधुर भक्ति का मूलाधार रूपासक्ति है। रूपासक्ति के द्वारा तर्कातीत आस्था पर आधारित अखण्ड प्रेम की उत्पत्ति होती है। प्रेम में संयोग और वियोग की स्थितियों में वियोग अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। वियोग की दशा में प्रेम की तीव्रता और शक्तिमत्ता का वास्तविक बोध होता है। विरह-विदग्ध, प्रणयाकुल आत्मा में प्रिय-दर्शन की साध, मिलन की प्यास और अभिलाषाओं की अविनाशी आग अनियंत्रित होकर प्रेम को दीप्ति और नूतनता प्रदान करती है। प्रेम-दग्ध हृदय की वेदनानुभूति से उत्पन्न मर्मांतक व्यथा, आराध्य का निकटतम सान्निध्य संभव करता है, और वियोगजन्य अधीरता में आराध्य के प्रति अकंप निष्ठा से ही प्रेम की परिपक्वता सिद्ध होती है। यही कारण है कि कृष्ण-भक्ति के सभी सम्प्रदायों के भक्त कवियों ने विरह की विविध स्थितियों का चित्रण बड़े मनोयोग से किया है। विद्यापति, सूर, मीरा और घनानन्द जैसे कवि इसी परंपरा के अन्तर्गत आते हैं। अपना सर्वस्व निछावर करके एकनिष्ठ भाव से नटवर नागर की रूप माधुरी पर मुग्ध होकर, पतिरूप में वरण करने वाली मीरा में इस अशरीरी अतीन्द्रिय प्रेम का दिव्यतम स्वरूप दृष्टिगत होता है। मीरा की भक्ति साधना में अनारोपित नारी सुलभ कान्ताभाव की कोमलता, स्निग्धता, तन्मयता और व्याकुलता का स्वरूप अन्यतम है। प्रेम की संयोग और विप्रलंभ दोनों स्थितियों का अत्यन्त स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी चित्र उनमें मिलता है।

मधुर भाव की साधना करने वाले भक्त, आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता का बोध करते हुए भी द्वैत भाव से वियोग-जन्य-वेदना का अनुभव करते हैं। इस उपासना पद्धति में कृष्ण की रूप-माधुरी और रसिकता ही उनका प्रेय और श्रेय है। शृंगार भाव की इस साधना पद्धति के लिए प्रकृति ही सर्वोत्तम आलंबन है। 'उत्तम प्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते'

(आचार्य विश्वनाथ: साहित्य-दर्पण ३/१८३)। प्रकृति का उद्दीपक स्वरूप संयोग और वियोग दोनों स्थितियों में अत्यधिक प्रभावी होता है। संयोग की सुखद स्थितियों में असीम आनन्द की सृष्टि करने वाला प्रकृति का शोभा-संभार, वियोग की दारुण स्थिति में अग्निपुंज की भांति दाहक और असह्य हो जाता है। न्यूनाधिक रूप से यह द्वैध प्रभाव सभी ऋतुओं में होता है किन्तु पावस की ऋतु तो अपने रूप, गुण और धर्म में रूपनिधान श्याम सुन्दर का साक्षात रूप है। कृष्ण-विरह में व्याकुल आत्माओं के लिए इस ऋतु को झेल पाना सर्वथा असंभव है।

पावस ऋतु के पदार्पण करते ही ग्रीष्म की दाहक तपन शिथिल पड़ने लगती है। वायु आर्द्र होकर कर्पूर और केतकी गंध से संयुक्त हो जाती है। शैल-शृंगों पर लौह मृदंग का वादन करते हुए, पर्वताकार मेघों का समूह मदमत्त कुंजरों की भांति विजयोद्धत गर्जना करने लगता है। पहली ही फुहार के साथ धरती का धानी आंचल लहरा उठता है। अनेक प्रकार के पुष्पों से शोभित और सुगंधित वातावरण, पक्षियों के कलरव का सुमधुर संगीत, उन्मत्त मयूरों का मोहक नृत्य, गंधपूरित पवन का मुक्त पान करके झूमते हुए पादप समूह, पृथ्वी से उठने वाली सौंधी गंध आदि से संपूरित मद्विह्वल वातावरण में धरती स्वयं एक मधुशाला बन जाती है। विरल:बादलों की आरक्त पाण्डुर शोभा से संयुक्त आकाश दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए कामातुर महिषासुर की भांति चंचल हो उठता है। विदेश गए हुए लोग अपने घर आते हैं, समस्त जड़-चेतन युग्मधर्मी जीवन पद्धति को अपनाता है। सघन घनमालाओं की घनीभूत परतों में दिशाओं का ज्ञान और आकाश का अपरिमेय विस्तार तिरोहित हो जाता है। धरती और आकाश का विस्तार एक नील वासना के पारावार में अवगाहित हो जाता है। ऐसे मेघ-मेंदुर वातावरण में विरही यक्ष और मर्यादा पुरुषोत्तम राम तक का मन विचलित हो गया तो परम दुखियारी, चिरवियोगिनी असहाय, अबला नारी की क्या बिसात। पल-पल प्रिय-दर्शन साध में उन्मादिनी की तरह व्यग्र होने वाली प्रेम-योगिनी **मीराबाई** के लिए बादलों का आतंककारी स्वरूप भयावह हो गया। दग्ध धरती पुनः हारीत शोभा से मंडित हो गई, अन्य विरहिणियों के पति परदेश से वापस आ गए, निरन्तर वर्षा के कारण चारों ओर पानी ही पानी फैल गया, किन्तु चिर वियोगिनी मीरा अपने अविनाशी प्रियतम की प्रतीक्षा में पथ पर पलक पांवड़े बिछाए साश्रुनयन भीगती रही। मीरा अपने व्यथित मन की दीन दशा में अशरण-शरण-कृष्ण-दर्शन के लिए आकुल चीत्कार कर उठी—

बादल देखि डरी हो स्याम, बादल देखि डरी
काली पीली घटा उमगी, बरस्यों एक घरी
जित जाऊं तित पानी ही पानी हुई सब भोम हरी
जाका पिया परदेश बसत है भीजै बाहर खरी
मीरा के प्रभु गिरधर नागर कीज्यो प्रीति खरी

पावस के उद्दीपक वातावरण में सुखी जनों का कलेजा भी मुंह को आने लगता है, फिर विरही जनों की कौन कहे। प्रिय-विहीन सूने मंदिर में एकाकिनी प्रिया के लिए घन-घटाओं

की गर्जना में, अंग-अंग व्यापी अनंग के शर-संधान की पीड़ा का बोध होने लगता है, कोकिल की मीठी कूक कलेजे की हूक बन जाती है। पापी कलापी और चातक की पुकार हृदय को मथित करती है। बिजलियों की चमक से शरीर विकंपित हो उठता है। दादुर और पपीहे का शोर, झिल्ली की झनकार, उद्धत पवन की झकझोर में ढोल मजीरे के साथ धारासार वर्षा का ताण्डव नृत्य व्यथित विरहिणी के हृदय को विरह-बाण से विद्ध कर, विदीर्ण कर देते हैं। काली रात नागिन की भांति फुफकारने लगती है और सूनी सेज उसे चिता की भांति भयानक लगती है। अपने अविनाशी प्रिय के विरह में व्याकुल मीरा बाई भी मतवारे बादलों की उमड़न-घुमड़न से आतंकित होकर क्षण-क्षण प्रिय के आगमन अथवा संदेश-श्रवण के लिए व्याकुल होने लगती है। उनका अतीन्द्रिय प्रियतम प्रेम का फंदा डाल कर दूज का चांद हो गया। मतवारे बादलों के आने से दादुर, मोर, पपीहा, कोयल आदि बोलने लगे, बिजली चमकने लगी, पानी बरसने लगा किन्तु विरह-विदग्ध मीरा को प्रिय का संदेश तक नहीं मिल पाया। वह अपनी मर्मांतक पीड़ा व्यक्त करते हुए कह उठी—

मतबारे बादर आए रे हरि को सनेसो न लाए रे
दादर मोर पपइया बोले कोयल सबद सुनाए रे
(इक) कारी अंधयारी बिजली चमकै बिरहिन अति डरपाए रे
(इक) भाजै बाजै पवन मधुरिया मेहा अति झड़लाए रे
(इक) कारी नाग विरह अति जारी मीरा मन हरि भाए रे

विरह रूपी काली नागिन मीरा बाई को बार-बार दंशित करके अवसन्न कर देती है किन्तु नेह की नदी में आकण्ठ अवगहित मीराबाई सजल नीरद की कल कान्ति वाले कृष्ण की मोहिनी छवि को देखकर चक्षुनिर्वाण की आशा में प्रतीक्षा करती रहती है। पावस की प्रखरता में वे अपने निर्मोही प्रियतम की अविराम प्रतीक्षा में संज्ञा-शून्यता को स्थिति में पहुंच जाती है। वर्षा का द्दीपक स्वरूप उनके लिए और भी कराल हो उठता है। सावन के महीने में अन्य सखियां तीज का त्योहार मनाती हैं, मंगल-गीत गाती हैं, कल-कल निनादिनी नदियां प्रिय-मिलन की आकुलता में उन्मत्त होकर निरवरोध और मर्यादास्वरुप तटों के प्रति अकरुण और आक्रामक हो जाती है। हंस, चक्रवाक, मयूर, मृग आदि युग्मोत्सव मनाते हैं। सद्यः स्नाता रसवती का कच्चा कौमार्य आकाश का आकर्षण बन जाता है। सृष्टिकामी बलाकाओं का समूह घन-मालाओं की ओर उड़ता है किन्तु विरही हृदय के लिए यह सुषमा, विकर्षक विषमा बन जाती और एक-एक क्षण असह्य और त्रासद प्रतीत होता है। यह 'काम संदीपनान स्थितान' की अवस्था में राम जैसे स्थिति प्रज्ञ को कहना पड़ा 'शोकश्च मन विस्तीर्णो वर्षाश्च भृशदुर्गमाः'। विरहिणी गोपियों ने वर्षागम पर 'बहुरि बन नाचन लागे मोर' कह कर जहां अपनी विरह-व्यथा को स्पष्ट किया वहां उन्हें इस बात पर आश्चर्य भी हुआ कि क्या जहां कृष्ण निवास कर रहे हैं वहां पावस ऋतु नहीं आती ? "**किधौं घन गरजत नांहि उन देसनि**" ...क्या वहां के सभी दादुरों को सांपों ने खा लिया अथवा मयूर, चातक और कोयलों को बधिकों ने मार डाला ? यदि

ऐसा न होता तो कृष्ण को भी इस ऋतु में गोपियों का स्मरण अवश्य आता। विद्यापति ने सावन के गरजते मेघों को एकाकिनी विरहिणी के लिए धनुर्धर व्याध माना। जायसी की नागमती के लिए वर्षा प्राणान्तक हो जाती है, झकझोर वर्षा में, करुणा-विगलित आर्त रोदन से उसके नेत्र 'आरी' की भांति अविरल गति से चूने लगते हैं। घनानन्द ने वर्षा के सूचक साधनों को वियोगिनी के लिए व्यूह-बद्ध आक्रामक सैनिकों का समूह माना। कालिदास का यक्ष आषाढ़ के प्रथम दिवस पर ही अधीर हो उठता है।

मीराबाई तो प्रकृत्या अबला थी। उनकी विरहानुभूति, आरोपित न होकर स्वानुभूति पर आधारित थी। उन्होंने अपने हृदय की, माध्यमरहित प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति की है, इसीलिए प्रकृति का प्रबल उद्दीपन भी उनके हृदय में अत्यंत स्वाभाविक और मार्मिक प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। आकाश में गरजते-लजरते मेघों के साथ ही उनके जीवनाकाश में भी विपत्ति की काली घटाएं घनीभूत होने लगती हैं। उनके परिजन उनके प्राणों के भूखे हो जाते हैं। पीड़ा की घनीभूत श्याम घटाओं में, विरह-विद्युत का कशाघात उनके कोमल हृदय को विदीर्ण कर देता है, उनकी असह्य वेदना, करुण चीत्कार बन जाती है। सावन भादों की अंधियारी रात में सूनी सेज, नागिन बन जाती है। प्रीतम पनंग का विष उनके रोम-रोम में लहरें लेने लगता है। प्रेम-दग्ध वियोगिनी का एक-एक पल दूभर हो जाता है। दादुर, मोर, पपीहे आदि की बोली उसे असह्य हो उठती है; निद्रा, भूख, शान्ति आदि उसके लिए स्वप्न हो जाते हैं। मीरा अपनी इस विकलता में अविनाशी प्रिय के दर्शन की प्रार्थना के साथ ही भगवान के स्नेही भक्तों से भी अपनी विपन्नता में सांत्वना की याचना करने लगती है। वर्षा के मेघाडम्बर से डांवाडोल हृदया मीरा अपनी आर्त वाणी में पुकार उठती है—

सइयां तुम बिन नींद न आवै हो।
पलक-पलक मोहि जुग से बीतै, छिन-छिन विरह जरावै हो।
प्रीतम बिन तिम जाइ न सजनी, दीपक भवन न भावै हो।
फूलन सेज सूल होइ लागी, जागन रैनि बिहावै हो।
कासूं कहूं कुन मानै मेरी, कहयां न को पतियावै हो।
प्रीतम पलग कस्यो कर मेरो, लहरि-लहरि जिव जावै हो।
दादर, मोर पपइया बोले, कोइल सबद सुनावै हो।
उमगि घटा घन उलरि आई, बीजू चमक डरावै हो।
है कोइ जग में स्याम-सनेही, ऐ उठि साल मिटावै हो।
मीरा के प्रभु हरि अविनाशी नैना देख्यां भावै हो।

प्रकृति के उद्दीपन-बोध में वस्तुतः स्वयं के भावबोध का प्रक्षेपण होता है। केलि-काल की शीतल लताएं वियोग में 'विषम ज्वाल-पुंज' बन जाती हैं। वर्षा ऋतु की उद्दीपक प्रकृति का भी यही यथार्थ है। संयोग की दशा में वर्षाऋतु कोमल-कान्त-वपु, उदार हृदया, श्री-संपन्ना, सुख संवर्धिनी, जीवन-शक्ति बन जाती है। नील गगन में मेघ-मद्र-स्वर, मदन मोहन

की मुरली का मादक संगीत बन जाता है। दादुरों की टर्र-टर्र शुद्ध 'गांधार स्वर' प्रतीत होता है। मयूरों का नृत्योत्सव, खग-कुल का सामगान, मांगलिक अनुष्ठान का द्योतन करता है। त्रिपुर कामिनी प्रकृति की खटकामुखी मुद्रा से संभूत चाक्षुष यज्ञ, हृदय में रस-राशि प्लावित कर देता है। सुखद मनोदशा में वियोगियों का त्रासद सावन, रसबरसावन, 'विनोद सरसावन' होकर मनभावन हो जाता है। प्रकृति की यह सनातन शक्ति मीरा के लिए भी अपवाद न रह सकी। अपने जीवन के सर्वस्व, नन्द नन्दन के अविराम वियोग में संतप्त मीरा को प्रिय से मानस-मिलन का संयोग आ ही गया। प्रिय 'आवन की आवाज' सुनते ही मीरा के लिए पावस-प्रकृति का पट परिवर्तित हो गया। एक क्षण में बादलों का घिरना, बरसना, दादुर, मोर, पपीहे आदि का बोलना सुखद प्रतीत होने लगा। बहुवर्णी पुष्पों से खचित हरी साड़ी में सजी धरती, इन्द्र-मिलन के लिए उत्सुक, अभिसारिका प्रतीत होने लगी। मीरा का गौरी-व्रत का त्योहार, प्रिय आगमन के कारण रंग और रस से भर गया। अपने जनम-जनम के प्रियतम को पा लेने के पश्चात अब मीरा के लिए भय कैसा? जितना चाहे मेंह बरसे, बिजली चमके और धरती पर जल-प्लावन बढ़े। प्रभु के पाद-पद्मों में मन को चाकर बनाकर मीरा निश्चिन्त हो जाती है। इसके लिए पावस का वातावरण सुहावना हो गया। लगता है वर्षा का वातावरण अपने त्रासद रूप में अनेक यातनाओं के द्वारा मीरा की परीक्षा ले रहा था और अब उनकी पावन भक्ति एवं दृढ़ विश्वास की परीक्षा लेकर अपने ऋषिरूप में प्रकट होकर मगलमय आशीष और बधाइयां दे रहा है। विरह-काल का त्रासद सावन मीरा के लिए मंगल-महोत्सव हो गया। चिरपोषित कामनाओं की पूर्ति की आशा में मन उमंग से भर गया, पुरवा पवन मादक हो उठी, बिजली बादलों से लिपटकर आह्लादित होने लगी। प्रिय-मिलन की मंगलमयी बेला के आभास मात्र से मीरा का मन इतना द्रवीभूत हो गया कि उनके प्रेम पुलकित हृदय से मंगल-गान फूट पड़ा—

> **बरसा री बदरिया सावन की**
> **सावन मां उमग्यो मारो मण की, भनक सुना हरि ग्रावन की**
> **उमड़-घुमड़ घन मेघा ग्राया, दामण घण झर लावन री।**
> **बीजां बूंदा मेहा ग्राया बरसा, सीतल पवन सुहावन री।**
> **मीरा के प्रभु गिगिधर नागर बेला मंगल गावन री।**

भारतवर्ष में वर्षा ऋतु का महात्म्य अनन्त है। इसका ऐसा बहुरूपी स्वभाव कि कहीं पर तो यह अनंग-पीड़ा बनकर त्रासद और भयानक हो उठती है तो कहीं "वर्षा ऋतु रघुपति भगति" बन जाती है। विरही जनों के लिए यह काल भुगिजंनि है तो सुखीजनों के लिए जीवन्त प्रेरणा। मीरा के काव्य में वर्षाऋतु का उद्दीपक स्वरूप संयोग और वियोग की अवस्थाओं में समान रूप से प्रभावकारी है। जन्मजन्मान्तर के प्रिय, गिरधर गोपाल की विरहिणी, प्रेम योगिनी मीरा, मरुस्थल की काव्य-मंदाकिनी भी है। शास्त्रीयता के प्रति अप्रतिबद्ध होने पर भी अनुभूति की गहनता और प्रवणता के कारण उनका काव्य सहज ही

शास्त्रानुमोदित हो गया। वर्षाऋतु का चित्रण भी उनके हृदय की सच्ची भक्ति, मन की निष्ठा और नारी सुलभ भावुकता से संयुक्त होकर अपनी चरम गरिमा और स्वाभाविकता के साथ विशिष्ट हो गया है। संयोग और वियोग की स्थितियां अत्यन्त मार्मिक और हृदयस्पर्शी बन गई हैं।

निवेदन

★ प्रकाशित रचनाओं पर उपयुक्त पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है।

★ जम्मू–कश्मीर में कला, संस्कृति और साहित्य के आकलन और उसके विकास को रेखांकित करने वाली सामग्री को शीराज़ा में वरीयता दी जाती है।

★ रचनाएं कागज़ के एक ओर सुबाध्य अक्षरों में लिखकर अथवा टाईप करवा कर भेजें। कॉर्बन-कॉपी पर विचार नहीं किया जाता है अतः उसे अपने पास ही रखें तो बेहतर होगा।

★ स्वीकृत अथवा विचाराधीन रचनाओं की सूचना यथासमय भेज दी जाती है। अस्वीकृत रचनाओं को लेकर किसी प्रकार का पत्राचार अपेक्षित नहीं है।

★ 'पुस्तकें और पुस्तकें' स्तम्भ के अंतर्गत समीक्षा के लिए पुस्तक की दो प्रतियां भेजना आवश्यक है।

—सम्पादक

शत्रु से बातचीत

—शशिशेखर तोषखानी

दर्द करते हुए दान्त की तरह
तुम मेरे हर शब्द के
मुंह में मौजूद हो।
मेरी त्वचा की हर सिकुड़न में
तुम्हारे अनाम नाम के अक्षर
समय-बम की किरचों की तरह
रख दिये गये हैं।
किस अदृश्य नाल से तुम
मेरी पीड़ा के नाभिस्थल से जुड़े हो ?
तुम्हारा आभास
मेरी पसलियों के बीच
कब्र के पत्थर का आकार ले चुका है
जो अब आहिस्ता-आहिस्ता
मेरे दिल के ऊपर खिसक रहा है।
अपनी भूख के भूगोल के
सीमा-वनों से
मुझे हर रात
तुम्हारे गुर्राने की आवाज़ सुनायी देती है !
जानता हूँ यह युद्ध है
गुंथी हुई मुट्ठियों की आज़माइश
कागज़ी गले से की गयी
गले और लोहे के
रिश्ते के बारे में तुम्हारी घोषणा
मुझे मालूम है।
पर तुम एक रूप और एक नाम से
मेरे समय के किसी कोने पर क्यों नहीं आते ?
क्यों आईने के टुकड़ों से होकर
मुझ पर हमला बोलते हो
—आईने के टुकड़े, जिन से टकरा कर
मेरा सूरज

सात-सात रंगों की धूल में बिखर जाता है !
तुम धुनिया हो सकते हो
पर ज़रूरी नहीं
कि एक के बाद एक
मेरे हर चेहरे को कपास में बदल डालो
और अपने लिये झण्डे बना लो !
ज़रूरी नहीं कि
किसी बनिये की तरह तुम
अपनी रोकड़ के लाभांश के साथ
एक छोटे सिक्के-सा मुझे जोड़ सको
छोटे सिक्के का दूसरा रुख
आग का एक घायल गोलार्द्ध भी हो सकता है।
सुनो,
मेरी चुप्पी में
तूफान के टूटे पंखों ने
अपना घोंसला बना लिया है
सुनो,
मेरी उंगलियां
मेरे मस्तिष्क पर पड़े
तुम्हारे जूते के निशानों को
अपने नाखूनों से खुरचना सीख रही हैं
सुनो,
मैं तुम्हें
अपनी रीढ़ के भीतर
बेचैन पारे-सा उठ-गिर कर
अपने दर्द का तापमान
निर्धारित करने नहीं दूंगा।

———

समकालीन कहानी : काम-प्रवृत्ति

—डॉ० कीर्तिकेसर

भूख मानव चेतना का आधारभूत स्रोत है। इस भूख में ही मानव का अस्तित्व केंद्रित है। मुख्य रूप से यह भूख दो प्रकार की है—उदर की भूख तथा लैंगिक भूख। उदर की भूख पर आदमी का अस्तित्व निर्भर है और लैंगिक भूख पर उसका सृजन। जहां तक उदर की भूख का प्रश्न है वह एकांगी है, वहां केवल एक व्यक्ति स्थित है जिसमें भूख है। लैंगिक भूख उभयांगी है, बहुपक्षीय है। व्यक्ति के आचार-व्यवहार के साथ इसका गहरा सम्बंध है क्योंकि तन की भूख मन की भूख का रूप धारण कर लेती है। इस भूख के शमन के साथ सृजन की दायित्वपूर्ण परिणति परिवार एवं समाज के नियमन से व्यवस्थित है। दूसरे शब्दों में स्त्री-पुरुष अपने आपको पुनः सृजित करने के लिए समाज के प्रति कई प्रकार से उत्तरदायी हैं। इसलिए उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया अपरिहार्य रूप से प्रभावित होती है। तीसरे, मानव क्योंकि संवेदनशील, कल्पनाशील बौद्धिक प्राणी है अतः वह इस भूख में पशुओं की तरह निरपेक्ष नहीं रह सकता। व्यक्ति की काम की भूख, जो उसे प्रकृति से प्राप्त है, और भाव-विचार-संस्कार जो उसने स्वयं अर्जित किए हैं—दोनों तत्व मिलकर शमन और दमन की अन्तर्विरोधी जटिल जीवन स्थितियां पैदा करते हैं जो उसके व्यवहार को बहुत प्रभावित करती हैं।

मनुष्य की लैंगिक भूख उसकी सांस्कृतिक व्यवस्था के लिए विकट समस्या रही है। जहां तक उदर की भूख की समस्या का प्रश्न है उसका शमन संभव है और आदिकाल से अब तक मानव ने उसके शमन हेतु अनेक साधन एकत्र कर लिए हैं किन्तु मानव समाज के विकास के साथ-साथ लैंगिक भूख के दमन की व्यवस्था हुई। सामाजिक नैतिकता के नियम भारतीय समाज में तो इतने रूढ़ और जटिल हो गये कि व्यक्ति के मन को उन्होंने बुरी तरह जकड़ लिया। इस दमन का निष्कासन अनेक सामाजिक विकृतियों के रूप में प्रस्फुटित हुआ। लैंगिक भूख के समाजीकरण की रूढ़ता के विरुद्ध आधुनिक व्यक्ति सर उठाने लगा। मनोविज्ञान के विकास ने जटिल रूढ़िबद्ध सामाजिक नियमन के आधार को हिलाकर नयी जटिलताएं पैदा कर दीं। उपभोक्ता संस्कृति के विकास के साथ अर्थ तत्व का दबाव जिस अश्लील रूप से समाज के जीवन पर पड़ा उसने भी यौन-सम्बंधों को अपरिहार्य रूप से प्रभावित किया।

समस्त वाङमय और कलाएं मनुष्य की लैंगिक भूख से प्रभावित हुयीं। प्राचीन संस्कृत साहित्य में यह सौंदर्य और आनन्द की अनुभूति बनकर आयी है तो मध्यकालीन साहित्य में विलासिता बनकर आयी है। किन्तु आधुनिक साहित्य में (गद्य विधा में) यह भूख विसंगति, विकृति, ऊब, घृणा एवं भावना बनकर आयी है। समकालीन कहानी में इस भूख के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण है जिसमें आसक्ति का कम, विरक्ति का दर्शन अधिक मिलता है किन्तु विरक्ति में रचनाकार दमन की अपेक्षा शमन को महत्व देते हैं। यद्यपि इस भूख का शमन न तो 'फ्री सैक्स' की छूट देने वाले पाश्चात्य समाज में हुआ न अति नैतिकता की दमनकारी व्यवस्था ही इसका विकल्प जुटा सकी। समकालीन कहानी में लैंगिक भूख को उपर्युक्त यथास्थिति के अनेक पहलुओं की विभिन्न अर्थ-छवियों में चित्रित किया गया है।

सैक्स से ऊब की जटिल वस्तुस्थिति जगदीश चतुर्वेदी की कुछ कहानियों में बड़ी खूबसूरती के साथ चित्रित हुयी है। **ड्राईंग रूम की पेंटिंग** में स्त्री के संदर्भ में सारे काल्पनिक सौंदर्य को नकारता हुआ व्यक्ति अपनी आदिम भूख के वशीभूत हो जाता है। उसे उत्तेजना का ज्वार उतरते ही अपनी सहभोगी मिसेज़ लाल के गर्भवती होने के अहसास में ऊबता, भ्रूण हत्या को तर्क से उचित ठहराता और जीव हत्या के बोध से पीड़ित होता हुआ अपने ही सत्य के अन्तर्विरोधों से आक्रांत देखा जा सकता है। 'शिशुहंता' में यौन भूख और भावना के साथ लगा है सृजन का मानवीय दायित्व/दायित्वबोध से अभिभूत स्त्री सृजन और पोषण के लिए तलाशती है एक घरौंदा और पुरुष का सहारा; इस दायित्व को नकारता, उदासीन निर्लिप्त पुरुष एक स्तर पर, वही पुरुष दूसरे स्तर पर दायित्व को स्वीकारता हुआ, एक जिम्मेदार सामाजिक है जो आकर्षण-विकर्षण (करुणा और घृणा) के बीच भटक रहा है। उसकी सामाजिकता उसे 'शिशुहंता' के रूप में देखती है। यौन सम्बंध में भावनात्मक सुरक्षा की मांग अधिकार रूप में स्त्री में संभवतः अधिक होती है। पुरुष यौन सम्बंध का निर्वाह जैवीय प्रक्रिया का यंत्र बन कर भी करता है। किन्तु स्त्री उसी यंत्र पर अधिकार करके निश्चित होना चाहती है यह वस्तुस्थिति जगदीश चतुर्वेदी की कहानी **हरक्युलीज** में व्यक्त हुई है। इस कहानी का पुरुष अजेय है। 'दुबली-पतली बौद्धिक लड़की' उसके वशीकरण की मासूम कोशिश में व्यतीत हो रही है। **मुर्दा औरतों की झील** में सहज उपलब्ध यौन सुख से ऊबा हुआ व्यक्ति नींद की गोलियों में सोता है। यहां अनियंत्रित सैक्स की त्रासद स्थिति विश्लेषित हुई है। महीपसिंह की कहानी **गंध** में भी लैंगिक भूख को जैवीय प्रक्रिया के रूप में और **शोर** कहानी में पुरुष की लगावहीनता और भावनात्मक स्तर पर ठंडेपन को भी देखा जा सकता है। डॉ० माहेश्वर की कहानी **वैक्युम** स्त्री-पुरुष के आकर्षण और विकर्षण की जटिलता को अपने ढंग से चित्रित करती है। यौवन और उसकी उद्दाम लालसा स्त्री-पुरुष को जोड़ने में बड़ा तत्व सिद्ध होती है तो मनुष्य में पशु को जगाने का सामर्थ्य भी रखती है। कुलदीप बग्गा की कहानियों में **नसों में चढ़ा जहर** और **रिक्तता** इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं।

इन कहानियों की कथावस्तु पुरुषोन्मुख है। स्त्रियां अधिकतर वस्तु अथवा उपकरण बनकर प्रस्तुत हुई हैं। पुरुष का प्राकृतिक, बौद्धिक और सामाजिक रूप विरोधाभासों में

विश्लेषित हुआ है। होस्टलों में रहने वाली और दफ्तरों में काम करने वाली युवतियों की सामाजिक वस्तुस्थिति का परिदृश्य इन कहानियों में स्वतः ही चित्रित हो गया है। रचनाकारों की सामाजिक दृष्टि लैंगिक भूख से जटिल सत्य का विश्लेषण करती है।

दूसरे वर्ग की कहानियां भावना और सैक्स के द्वन्द्व का विश्लेषण करती हैं। वैसे तो मैथुन की भूख मनुष्य और पशु में समान रूप से है किन्तु मनुष्य संवेदनशील एवं बौद्धिक प्राणी है और उसके मन की भूख भी उतनी ही प्रबल है जितनी लिंग और उदर की भूख। भावना ही कल्पना को मधुरिमा देती है। बुद्धि चंचल होती है, व्यभिचारिणी होती है। व्यक्ति के कर्म का संचालन वह करती है किन्तु नियन्त्रण भावना ही करती है। बुद्धि संशय, कौतूहल एवं आशका की जननी है तो भावना, आस्था, विश्वास और विवेक को स्थायित्व प्रदान करती है। करुणा, प्रेम, सद्भाव, सहानुभूति, दया, ममता जैसे मानवीय गुणों का उत्स भावना से होता है। यद्यपि विज्ञान के युग में आदमी बौद्धिकता अथवा विचार में इतना उलझ गया है कि भावना के लिए उसके पास समय ही नहीं रहा। किन्तु समाज का अस्तित्व भावना पर ही टिका हुआ है। महानगरीय जीवन में अकेलेपन के अस्तित्वगत संकट का बड़ा कारण भावनात्मक असुरक्षा ही है। भावना विहीन व्यक्ति की परिकल्पना अपने आप में यंत्र परिकल्पना है। बौद्धिक नीरसता और यांत्रिकता से ऊबा व्यक्ति भावना में ही त्राण पाता है।

इस वस्तुस्थिति के अनेक पहलु कहानी में मार्मिकता से चित्रित हुए हैं। जगदीश चतुर्वेदी की **कुंकमी सांझ का तैरता सूरज, अनाहूत क्षण, युक्लिप्टस के साए, तपेदिक का मरीज डेलिया का फूल** आदि में भावना के साए में पनपते स्त्री-पुरुष के लैंगिक आकर्षण को देखा जा सकता है। यह मानवीय मनःस्थितियां मानवीय करुणा को आन्दोलित करती हैं। महीप सिंह की कहानी **ब्लाटिंग पेपर** में प्रीति को भावना, विश्वास और आस्था को पुरुष की निस्पृह, निर्लिप्त-सी हरजाई मनोवृत्ति में डूबते देखा जा सकता है। इस संदर्भ में मन्नू भंडारी की कहानी **स्त्री सुबोधनी** तथा उषा प्रियंवदा की **पूर्ति** भी उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक परिवेश की आर्थिक स्थितियों एवं वैचारिक गतिशीलता ने समकालीन मध्यवर्गीय नारी की मानसिकता और सामाजिक स्थिति को बहुत प्रभावित किया। इससे पारिवारिक धुरी तो हिली ही स्त्री-पुरुष सम्बंधों में भी तीव्र परिवर्तन आया। शिक्षित स्त्री-पुरुष पश्चिमी विचारधाराओं से बहुत प्रभावित हुए। देवेन्द्र इस्सर के शब्दों में "अस्तित्ववाद ने जहां जीवन की निरर्थकता को साहित्य का केन्द्रीय विषय बनाने का प्रयत्न किया है वहां संकल्प स्वातंत्र्य के मूल्य से भी सम्मानित किया···फ्रायडवाद ने मनुष्य के मन की गहराईयों में झांक कर उसके अवचेतन का विश्लेषण करके कहानी में गहन चित्रण को अधिक प्रिय बनाया लेकिन अपने विश्लेषण में फ्रायड ने मनुष्य को अपने अवचेतन, ग्रंथियों, शैशवकाल के विरोधों और अन्य प्रेरिकाओं का विवेकहीन दास बना दिया और इस प्रकार मनुष्य से उसका विवेक छीन कर उसे मूल्यहीनता की गहरी खाई में फेंक दिया।" इसमें संदेह नहीं कि इन विचारधाराओं के प्रभाव से (अन्य परिस्थितियां भी शामिल हैं) प्रेम का सांस्कृतिक रूप कहानी से तिरोहित

हो गया और नैतिक अनिश्चितता के कारण काम सम्बंधों के नाम पर एक भोगवाद ही तैयार हो गया और पुरुष कथाकारों ने अजनबीपन को पहचान पाने का माध्यम ही नारी शरीर बना लिया। **खोई हुई दिशाएं, रीछ, बिस्तर** तथा **एक पति के नोट्स** जैसी कहानियां लिखकर नारी शरीर को निर्जीव प्रतिक्रियाहीन वस्तु ही बना दिया। डॉ० महीप सिंह के शब्दों में, "सैक्स के विषय में एक विशेष प्रकार की चाटुकारिता आ गई। कहानीकार सैक्स के बारे में उसी दृष्टिकोण का सबूत देने लगे जो सामंती युग की विशिष्टता थी। औरत को सैक्स के बारे में खिलौने का दर्जा दिया जाने लगा। अपने हर फ्रस्ट्रेशन का बदला अपनी पत्नी से लिया जाने लगा, क्योंकि वह बेचारी अभी भी लिब्रेट नहीं हो सकी थी और जवाबी हमला नहीं कर सकती।" वस्तुतः समकालीन कहानी में नयी कहानी अथवा अकहानी का नारा लगाकर सैक्स का जो फूहड़ चित्रण किया गया, उसमें पुरुष मानस के संस्कृति से विच्छिन्न, इतिहास से कटे हुए, समाज से असंयुक्त तथा कुंठित मानस का परिचय मिलता है।

समय बदला। नारी जवाबी हमले के लिए तैयार हो गयी। वह भी अब 'बेचारी' नहीं रही। वह भी पुरुष के समान सैक्स सम्बंधों की मांग करने लगी। घर से बाहर निकल कर जब वह पुरुषों के सीधे संपर्क में आयी तो भोग्यवस्तु न बनकर भोक्त्री बनने की इच्छा करने लगी। दूधनाथसिंह, रवीन्द्र कालिया, महेन्द्र भल्ला, प्रियदर्शी प्रकाश आदि लेखकों के विपरीत महिला लेखकों ने यौन-सम्बंधों की जटिलता को सामाजिक यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में उजागर किया और एक मानवीय नैतिक बोध भी दिया। यहां यह बात साफ कर दूं कि महिला और पुरुष लेखकों का वर्गीकरण इसलिए किया है कि दोनों की मानसिकता में एक बुनियादी अन्तर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इस वस्तुस्थिति को कुछ कहानियों से देखा जा सकता है।

दीप्ति खंडेलवाल की कहानी **क्षितिज** में पुरुष और स्त्री दोनों विभिन्न स्थलों पर चित्रित हुए हैं। यौन सम्बंध पुरुष के लिए जैविक आवश्यकता है जबकि स्त्री उसे भावनात्मक रंग में रंगे हुए है। शायद लेखिकाएं प्रेम के सांस्कृतिक रूप को मानती हैं जबकि पुरुष कहता है कि 'लुक हियर बेबी' अगर तुम रवि को पसंद करती हो; जरूर उससे शादी कर लो। शादी एक बायलाजिकल नैसेसिटी है, बाकी प्रेम-व्रेम सब बकवास है।" नायिका का प्रेमी पति भी व्यवहार में इसी 'नैसेसिटी' को पूरा करता है। वह बेबाक कहता है—'बहुत टेन्शन है हनी। क्या ओब्लाइज करोगी!' इसके बाद पति आराम से सो जाता है किन्तु शिक्षित संवेदनशील पत्नी को सम्बंधों की निरर्थकता का बोध होता है। पुरुष के प्रति अरुचि, घृणा और सम्बंधों में विच्छिन्नता की स्थिति पैदा हो जाती है। इस प्रकार की यौन स्थिति से पुरुष अहंकार के साथ ही नारी के अहंकार की स्थिति उजागर हुयी है—जो स्त्री की बदली हुयी मानसिकता का परिचय देती है। प्रेयसी पत्नी कहती है, "अच्छा होगा, मैं रवि से तलाक ले लूं, ऐसे ठंडे सम्बंध को कैसे निभाया जा सकेगा जो विष बुझी सूइयों-सा चुभता रहता है।...जो स्लो पायज़न सा धीरे-धीरे मेरे रग-रेशों में उतरता जा रहा है, जो एक बारगी ही समाप्त नहीं कर देता वरन् मेरी चेतना को अचेत किए देता है।" नारी पुरुष को बता देना चाहती है कि मात्र वस्तु नहीं है, वह भी चेतन प्राणी है, उसका भी स्वत्व है, चाह है। समूची कहानी में स्त्री-पुरुष

सम्बंधों की सदियों पुरानी पुरुष मानसिकता का अस्वीकार है। यौन-सम्बंधों के परिप्रेक्ष्य में दूधनाथसिंह की कहानी **बिस्तर** आधुनिक शिक्षित नारी की मानसिकता को अपने दृष्टिकोण से एक अलग 'शेड' में प्रस्तुत करती है। स्वतंत्र वरण की आकांक्षिणी पत्नी किसी की प्रेयसी बनकर पति को छोड़ गयी है और शराब में डूबा पति कहता है, "औरतों के लिए दुनियां में कुछ भी करना उतना ही आसान है जितना ठंडा पानी पीना।"

यौन सम्बंधों के संदर्भ में समकालीन नारी-पुरुष का संस्कारगत द्वंद्व भी गहरा और जटिल है। स्वतंत्र भोग के प्रवक्ता भी पत्नी और पति के स्थापित प्रतिमानों को टूटता देख सहज नहीं हो पाते। मृदुला गर्ग की कहानी **कितनी कैदें** यौन सम्बंधों की नैतिक सीमाओं को रेखांकित करती है। मीना के मानस में विवाह-पूर्व यौन सम्बंध के कारण समाज और माता-पिता के कठोर कटु-व्यवहार से एक ग्रंथि बन गयी है। यौन सम्बंधों से उसे वितृष्णा हो गयी है। वह अपने पति की उपस्थिति से आक्रांत-सी रहती है। किन्तु एक दिन भय की स्थिति में ही उसका ग्रंथि-विमोचन हो जाता है तो वह कहती है—'तुम्हें पाकर मेरा शरीर ही नहीं जगा, मैं भी यह जान गई कि मैं भी प्यार कर सकती हूं' किन्तु मीना का अतीत पंकज को दोराहे पर ला पटकता है। वह कहता है, "क्या मैं उसकी पिछली ज़िन्दगी के शिकंजों से बरी हो सकूंगा। इस औरत के साथ जी सकूंगा।" इस विसंगति का दूसरा प्रतिरूप कुलभूषण की कहानी **निश्चय** में देखा जा सकता है। उर्मिला प्रेम के दायित्व से आंखें चुराने वाले प्रेमी के लिए आंसू बहाने, जीवन को अभिशप्त होकर जीने की अपेक्षा प्रेमी की भेंट को मिटा देना ही उचित समझती है। प्रेम का स्वप्नजाल बिखर गया है। यथार्थ की ठोस भूमि पर खड़े होकर उसने सोचा 'अपने दान को वह गुलामी नहीं बनाएगी' वैज्ञानिक सुविधाओं का सहारा लेकर वह एक दुर्बल, भगोड़े प्रेमी के अभिशाप से मुक्त हो गयी है। नारी की यौन-सम्बंधी मानसिकता के बदलाव में वैज्ञानिक साधन भी महत्वपूर्ण आयाम है। महीपसिंह की कहानी **सीधी रेखाओं का वृत्त** में आधुनिक नारी पुरुष की अधिकारवादी मनोवृत्ति को चुनौती देती है।

इस प्रकार नारी की बदली हुयी मानसिकता से स्त्री पुरुष सम्बंधों में ही परिवर्तन नहीं हुआ, दाम्पत्य सम्बंधों के पुनर्मूल्यांकन की भी स्थिति पैदा हो गयी है। आज की नारी पत्नी, कुलवधू और मातृत्व के दायित्व के अलावा अपने मानवीय दायित्व को भी पहचानती है। वह अपने आपको मित्र, बंधु और इंसान के रूप में भी देखना चाहती है। इस संदर्भ में मन्नू भंडारी की कहानी **ऊंचाई** का सार देना चाहूंगी। प्रेमचन्द कालीन नारी पात्र जहां पति और प्रेमी के बीच शरीर और आत्मा को बांटकर, रूढ़िबद्ध धार्मिक स्थापनाओं में आवद्ध हो आत्म-पीड़न की स्थिति में जीवन व्यतीत करते थे, पति के मरने पर भी प्रेमी का सिंदूर नहीं ग्रहण करते थे वहां शिवानी समकालीन नारी की परिवर्तित और विकसित मानसिकता को रेखांकित करती है। अपने पूर्व, प्रेमी जिसके मन में प्रेम की असफलता की ग्रंथि बन गयी है और वह समझता है—"आई एम कम्पलीटली डैड (मैं पूर्णतः मर चुका हूं)", शिवानी अपने मानवीय दायित्व को पूरा करने के लिए उद्यत है "मेरे प्यार की लाश ने तुम्हें जीती-जागती तस्वीर

बना दिया है। मेरा प्यार ही तुम्हें नया जीवन देगा। मेरे इस अधिकार को मुझ से कोई नहीं छीन सकता।" उसने शिशिर और अतुल (पति और प्रेमी) के बीच की रूढ़ सीमा को मिटा दिया है। उससे भी ज्यादा उल्लेखनीय है शिवानी के माध्यम से मन्नू भंडारी की साफ, स्पष्ट ठोस संतुलित और स्वस्थ मानवीय अन्तर्दृष्टि जिसने काम सम्बंधों को मानवीय संवेदना और नवीन नैतिक बोध की स्थापना पुरानी मान्यताओं को ठोस वैचारिक चुनौती देकर की है। शिवानी पति से कहती है, "यदि हमारे सम्बंधों का आधार इतना छिछला है कि एक हल्के से झटके को संभाल नहीं सकता तो सचमुच उसे टूट जाना चाहिए।" यहां दाम्पत्य सम्बंध की तथाकथित मर्यादा को नया आधार दिया गया है। शिवानी की दृढ़ता, उसके विवेकपूर्ण चरित्र तथा आचरण को रेखांकित करती है। पत्नी की मर्यादा को उसने मानवीय धरातल पर ऊंचाई और विस्तार दोनों ही दिए हैं। वह कहती है, "अपना दायित्व पूरा न कर पाने के कारण शायद अपने को कभी क्षमा नहीं कर पाऊंगी। विश्वास करो शिशिर, जो कुछ भी किया, तुम्हें कष्ट देने के लिए नहीं, अपने को कष्ट से बचाने के लिए किया।" अपने कर्त्तव्य को निभाने के लिए शिवानी किसी भी संकट का सामना करने के लिए दृढ़ है। 'उसका स्वत्व' अपनी पहचान आप देता है। जिसका अनुमोदन शिशिर को भी करना पड़ता है। अनुचित न होगा यदि कहा जाए कि मन्नू की यह कहानी आधुनिक दाम्पत्य सम्बंधों की बहुत सी संभावनाएं और समाधान प्रस्तुत करती है। यौन-सम्बंधों में मानवीय नैतिकता के संदर्भ में मुक्तिबोध की कहानी **प्रश्न** भी एक सुन्दर उदाहरण है। यौन सुख की अस्तित्ववादी त्रासदी अज्ञेय की कहानी **वे दूसरे** में रेखांकित हुयी है। लेखकीय दृष्टि का संकेत संभवतः आगत समय में टूटे हुए संयुक्त परिवार से बने लघु परिवार से टूट कर स्वतंत्र एवं एकांकी होते हुए व्यक्ति की ओर है।

आधुनिक मध्यवर्गीय समाज पर अर्थ तत्व का दबाव अपरिहार्य रूप से बढ़ रहा है। स्त्रियां दफ्तरों, टी० वी०, रेडियो तथा वाणिज्य और अन्य उद्योगों में बड़ी संख्या में प्रवेश पा गई हैं। यौन भूख यहां भी कई रूपों में क्रियाशील दिखाई देती है। इसका बड़ा क्रूर रूप हमने विष्णु प्रभाकर की कहानी **धरती अब भी घूम रही है** में देखा था। बालिका अपने पिता की रिहाई के लिए अपना नन्हा सौंदर्य जज को भेंट करने के लिए निकल पड़ी है। विष्णु प्रभाकर की ही कहानी **ठेका** में पति अपनी पत्नी को 'सोशल' बना रहा है, बड़े अफसरों से 'ठेका' मंजूर करवाने के लिए। सूर्यबाला की कहानी **रक्षाकवच** का पति अपनी मासूम पत्नी को अपने ही घर में चीफगेस्ट बॉस के हवाले करके घर से चला जाता है। महीपसिंह की कहानी **घिरे हुए क्षण** का पति पत्नी के अंतरंग मित्रों को चुपचाप सहता है। कृष्णा अग्निहोत्री की कहानी **निठल्ले** के गरीब माता-पिता अपनी १४ वर्षीय बेटी को प्रौढ़ रामभरोसे के हाथ बेच देते हैं और तीसरी लड़की पैदा होने पर माता-पिता कहते हैं—'निठल्ले लड़के से तो लड़की भली'। यौन-भूख की यह त्रासदी बहुत विकट है। महीपसिंह की **ऐक्सट्रा** और आनन्द प्रकाश की **लिपिस्टिक**, प्रियदर्शी प्रकाश की **पति** आदि कहानियां भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। **ठेका** में पत्नी का उपयोग पति करता है किन्तु कुलदीप बग्गा की कहानी

उपयोग में इसके आगे की स्थिति चित्रित है अर्थात् अपने 'हैंडसम', व्यवहार कुशल पति का उपयोग पत्नी अपनी महिला बॉस से ट्रांसफर रुकवाने के लिए करती है।

इन स्थितियों में लैंगिक भूख—उदर की भूख की तृप्ति का साधन बन गयी है। महानगरों में निरतर भयावह रूप से बढ़ती हुयी वेश्यावृत्ति, एक प्रकार से यौन के व्यवसायीकरण के पीछे का अर्थतत्व का दबाव ही है जिससे अनेक प्रकार की सामाजिक विकृतियां समकालीन कहानी में संवेदनात्मक आधार पर चित्रित हुयी हैं—जैसे कमलेश्वर की **मांस का दरिया**, शक्तिपाल केवल की **वापसी**, मोहन राकेश की **मरुस्थल** आदि कहानियां।

यौन प्रवृत्ति वैसे तो आवश्यक एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति है और नित्य घटित होती है किन्तु सामाजिक संतुलन के लिए कुछ वर्जनाएं अपेक्षित हैं। इसलिए यौन विकृतियों के साथ 'अश्लीलता' या 'अश्लील' का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वैयक्तिक जीवन में स्वाभाविक होते हुए भी यौन-सम्बंधों में उच्छृंखलता एवं उनका प्रदर्शन दूसरों की मानसिक स्थिति को बुरी तरह असामाजिकता की ओर प्रेरित कर सकता है। 'अश्लील' शब्द का प्रयोग इन्हीं यौन-व्यवहारों की भावनात्मक अभिव्यक्ति की परिभाषा के रूप में होता है। अश्लीलता का प्रश्न वैसे अत्यन्त विवादग्रस्त विषय है फिर भी हरेक समाज में उसकी सीमारेखा स्वयं विकसित हो गयी है और यौन के सौंदर्य को जहां मान्यता प्राप्त होती है वहां भदेस अथवा विकृति को वर्जित भी माना जाता है। मानव के यौन-सम्बंध नितांत वैयक्तिक धरातल पर स्वीकार किए गये हैं अतः यौन-सम्बंध का असामाजिक प्रदर्शन अश्लीलता है। वैसे तो यह अश्लीलता अन्य कलाओं और साहित्य में भी विद्यमान है किन्तु साहित्य में शब्द का प्रभाव संचरणशील है, स्थितिशील नहीं है—विशेष रूप से कहानी का। आधुनिक कहानी ज्यों-ज्यों आम आदमी के निकट आती गयी कामजन्य भदेस को उसमें खुला स्थान मिलता गया है। अनुचित न होगा यदि कहा जाए कि मध्यवर्गीय लेखकों का मानसिक व्यभिचार शालीनता को तोड़ता हुआ अनेक कहानियों में अश्लील ढंग से अभिव्यक्त हुआ है। प्राचीनकाल में धर्म की आड़ में कुछ यौन विकृतियों को साहित्य के क्षेत्र में वैधता प्रदान की गई और आधुनिक कहानी-साहित्य में मनोविज्ञान के नाम पर यौन-भदेस को वैधता प्रदान की जाने लगी। इस संदर्भ में जाने-माने कहानीकारों की कुछ कहानियों को देखा जा सकता है जैसे कृष्णा अग्निहोत्री की **आदमी जो नहीं था**, महीपसिंह की **गंध**, श्रवण कुमार की **खंडहर**, महेन्द्र भल्ला की **एक पति के नोट्स**, रवीन्द्र कालिया की **संदल और सिथाल**, गिरिराज किशोर की **रिश्ता** तथा कृष्णा सोबती की बहुचर्चित तथाकथित बोल्ड कहानी **यारों के यार** आदि। यहां यह ध्यान देने योग्य बात है कि यथार्थ के नाम पर विकृति का चित्रण साहित्यिक उपलब्धि नहीं हो सकती। मनोविज्ञान में मानव की हरेक प्रवृत्ति स्वाभाविक प्रवृत्ति है किन्तु सामाजिकता में उनकी विकृतियों की स्वीकृति नहीं होती। यह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण तो शास्त्रीय विषय है लेकिन मैं मानती हूं कि सामाजिकता साहित्य का स्वाभाविक गुण है, मनुष्य की सामूहिक चेतना और वैयक्तिक चेतना में गुण को ग्रहण करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति मौजूद है। साहित्य का एक काम इस

स्वाभाविक प्रवृत्ति का विकास अथवा संस्कार करना है। यौन साहित्य के लिए वर्जित क्षेत्र कदापि नहीं हो सकता किन्तु मानसिक व्यभिचार की अभिव्यक्ति वर्जित होनी ही चाहिए। फ्रायड और कामसूत्र पढ़ने वालों को दर्शनशास्त्र और समाजशास्त्र भी दृष्टि में रखना चाहिए। साहित्य वैयक्तिक होने पर भी सामाजिक ही होता है, व्यक्तिगत नहीं रहता। यौन विकृति को चित्रित करने की सार्थकता भी तभी तक है जब तक सामाजिक चेतना में गुण का संस्कार है किन्तु लगातार विकृति का चित्रण सामाजिक की चेतना को विकृति का अभ्यस्त करेगा। ऐसा साहित्य गुणात्मक मूल्यों का निर्माण कदापि नहीं कर सकेगा। साहित्य का क्षेत्र भावनात्मक है और साहित्यकार का काम भावनात्मक सौंदर्य का सृजन करना है। इस क्षेत्र में विकृति, कुरूपता, भदेसता में सामाजिक को लिप्त, तन्मय करने से साहित्यकार, विशेष रूप से कहानीकार से परहेज़ अपेक्षित होता है।

———

इतिहास

लद्दाख के इतिहास का एक पृष्ठ

—छवांग रिगजिन

हिमाच्छादित तिब्वत प्रदेश में इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न भगवान् बुद्ध की अमरवाणी के प्रचार-प्रसार का कार्य र्ग्यालपो व राजा ल्हथोथोरीजनग्चन के राज्यकाल में आरम्भ हुआ। राजा ल्हथोथोरीजनग्चन को वहां के लोग आज भी आर्यसम्भद्र का अवतारित राजा मानते हैं। तिब्वत का सर्वप्रथम र्ग्यालपो अथवा राजा ग्त्रख्रीग्चनपो से गणना करके उनके वशज र्ग्यालपो यिरिस्नोङग्चन तक २६ राजा-महाराजाओं के राज्यकाल में बौद्ध धर्म और बौद्ध संस्कृति का वहां नाम तक नहीं सुना था। उस वक्त वहां "बौन धर्म" उन्नत दशा पर था।

तिब्वत में बौद्ध-संस्कृति के प्रसार-प्रचार के कार्य से सम्बद्ध इतिहास के बारे में लद्दाखी और तिब्बती विद्वानों का विचार इस प्रकार है—ल्हथोथोरीजनग्चन के राज्यकाल में एक दिन उसके राजप्रसाद 'फोढङयुमबुतहखङ" के छत पर एक सूत्रग्रन्थ आकाश से गिरा। राजा और उनके राजदरबारियों को इस सूत्रग्रन्थ का अर्थ समझ में नहीं आया अतः उस सूत्रग्रन्थ को उन्होंने अपने राजदरबार में सुरक्षित रख छोड़ा। किन्तु भारतीय विद्वानों का मत है कि उक्त राजा के शासनकाल में भारत से कुछ बौद्ध विद्वान/प्रचारक तिब्वत पहुंचे और उन्होंने र्ग्यालपो ल्हथोथोरीजनग्चन को एक सूत्रग्रन्थ भेंटरूप में दिया। परन्तु राजा और उसके दरबारी उस सूत्रग्रन्थ का अर्थ नहीं समझ सके। क्योंकि इस राजा के राजदरबार में लिपि का कोई ज्ञाता नहीं था। इससे भारतीय बौद्ध-प्रचारकों को अत्यन्त दुख हुआ और निराश होकर वे स्वदेश वापस चले आये।

तिब्वत, लद्दाख और हिमालय के अन्य पर्वतीय क्षेत्रों में आज भी बुद्ध द्वारा प्रतिपादित वाणियां सर्वत्र व्याप्त हैं। जहां तक बौद्ध-धर्म, प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, साहित्य एवं दर्शन से सम्बद्ध जितने भी विषयों का प्रश्न है भारत, तिब्वत और लद्दाख को पृथक दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। इतना ही नहीं तिब्वत और लद्दाख में राजनीतिक चेतना का प्रादुर्भाव भी सर्वप्रथम भारत से हुआ। तिब्वत और लद्दाख के प्रारम्भिक इतिहास का अध्ययन करने

से इस तथ्य का स्पष्ट रूप से पता चलता है। तिब्बत और लद्दाख के राजनीतिक और धार्मिक इतिहास की पुस्तकों में उक्त तथ्य के सम्बन्ध में इस प्रकार का विवरण मिलता है—"बुद्ध के समकालीन राजा प्रसेनजित के यहां पांच राजकुमार हुए। उन पांच राजकुमारों में से अन्तिम राजकुमार का नाम बर्मबुद्ध था। वह बचपन से ही बहुत प्रतिभाशाली, युद्धप्रिय और पराक्रमी स्वभाव का था। उसके शरीर का प्रत्येक अंग साधारण लोगों से भिन्न था। उसमें कई विलक्षण चिह्न मौजूद थे। उसके इन असाधारण लक्षणों को देखकर राजा प्रसेनजित के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ। राजा ने देश भर के विख्यात ब्राह्मणों और विद्वानों को अपने राजमहल में निमन्त्रित किया। देश के कोने-कोने से विख्यात ब्राह्मण और विद्वान् राजा के राजदरबार में जमा हुए। राजा ने ब्राह्मणों और विद्वानों से राजकुमार के सम्बन्ध में पूछताछ की। उन्होंने राजा को बताया कि इस राजकुमार का पिता की मृत्यु से पूर्व राज्याभिषेक होगा। इस कथन से राजा के मन का सन्देह और अधिक पक्का हो गया। राजा ने ब्राह्मणों के कथनानुसार अनुमान लगाया कि "यह राजकुमार मेरी और अपने बड़े भाइयों की हत्या करके राजगद्दी पर बैठेगा।" राजा नें पुनः ब्राह्मणों से पूछताछ करना शुरू किया। ब्राह्मणों ने राजा से स्पष्ट रूप से कह दिया कि यदि "इस राजकुमार को भारत की पश्चिमी सीमा पर स्थित हिमदेश तिब्बत में भेज देंगे, तो वहां यह राजकुमार प्रजा और प्राणीमात्र के हित में महत्वपूर्ण ल्याणकारी कार्य करेंगे।"

इससे राजा प्रसेनजित की मनःस्थिति कुछ शान्त हुई और सन्देह भी हल्का हुआ। तत्पश्चात राजा ने ब्राह्मणों के कथनानुसार राजकुमार को कुछ घोड़ों और सेवकों के साथ पश्चिम दिशा की ओर भेज दिया। सभी लोग पश्चिमी पर्वतों की भयंकर शृंखला और घाटियों को लांघ कर मध्य तिब्बत में स्थित एक पर्वत के शिखर पर जा पहुंचे। उसी पर्वत की चोटी पर राजकुमार को छोड़कर उनके सेवक घोड़ों को लेकर भारत, स्वदेश, वापस आये।

दूसरे दिन राजकुमार को कुछ तिब्बती ग्वालों ने देखा। ग्वालों ने शाम को राजकुमार के बारे में बहुत लम्बी-चौड़ी कहानी सुनाई। सभी नगरवासी राजकुमार को देखने की तीव्र इच्छा से उनकी तरफ दौड़े। नगरवासियों ने राजकुमार से अपनी तिब्बती बोली में कुछ बातें पूछीं परन्तु राजकुमार समझ नहीं पाया। अन्त में उन्होंने भारतवर्ष की तरफ अंगुली से संकेत किया। उस वक्त तिब्बत में राजा और शासक की परम्परा शुरू ही नहीं हुई थी। लोग जंगली अवस्था में रहते थे। सभी तिब्बती राजकुमार के अद्भुत व्यक्तित्व को देखकर प्रभावित हुए और उसे देवता समझने लगे। उन्होंने उनको अपने देश का ग्यालपो या शासक बनाने के लिए आपस में विचार-विमर्श किया और अन्त में सभी सहमत होकर उनको पालकी में बिठा कर तहसा नगर में लाये। वहां उन्होंने उनको राजगद्दी पर अभीषिक्त किया और उनका नाम अख्रिग्चनपो रखा। तब से लेकर आज तक लद्दाख में कई शताब्दियों तक इसी राजा के वंशजों की परम्परा चली आ रही है। लद्दाखी भाषा में 'ञ' का अर्थ गर्दन, 'ख्री' का अर्थ राजगद्दी और 'ग्चनपो' का शाब्दिक अर्थ राजा व शासक है। इन्हीं तीनों शब्दों के संयोग से उनका नाम ञख्रीग्चनपो पड़ा है।

बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास :—

तिब्बत और लद्दाख में बौद्ध धर्म, भारतीय प्राचीन संस्कृति, कला, साहित्य तथा दर्शन आदि के विकास और प्रचार-प्रसार की दृष्टि से इतिहास काल को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पूर्व कालीन विकास और पश्चात कालीन विकास।

कुछ विद्वानों का मत है कि सर्वप्रथम बौद्ध धर्म कश्मीर से लद्दाख में पहुंचा ; तत्पश्चात् तिब्बत में। यदि यह कथन सत्य है, तो इसके आधार पर हम अनुमान लगा सकते हैं कि बौद्ध धर्म, भारतीय संस्कृति, कला, साहित्य तथा दर्शन का उदय तिब्बत से पहले लद्दाख में हुआ है। लेकिन इस तथ्य के समर्थन में अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिल सका है। यह तथ्य अभी तक हमारे लिए एक महत्वपूर्ण शोध कार्य का विषय बना हुआ है।

तिब्बत और लद्दाख में प्राचीन भारतीय संस्कृति के विकास का इतिहास र्ग्यालपो व राजा स्रोङ-ग्चन-र्ग्यालपो से आरम्भ हुआ मानते हैं। क्योंकि इस राजा के पूर्वज र्ग्यालपो-तहथोथोरी के समय वहां बौद्ध धर्म और भारतीय प्राचीन संस्कृति का आगमन हुआ था, परन्तु इसका र्ग्यालपो-स्रोङ-ग्चन-स्गमयो के शासनकाल तक कोई विकास नहीं हो पाया। इसका विकास होना असम्भव भी था, क्योंकि तब तक वहां भाषा तो थी परन्तु कोई लिपि नहीं थी। अपने प्रदेश के पिछड़ेपन तथा दुर्दशा को देखकर र्ग्यालपो स्रोङ-ग्चन-स्गमयो बहुत लज्जा तथा हीनभावना महसूस करने लगे। ज्यों ही वह राजगद्दी पर बैठे, त्यों ही उन्होंने अपने दरबार के प्रधान मन्त्री "थोनमी" तथा अन्य १६ तिब्बती विद्यार्थियों को भारत के प्रमुख बौद्ध विद्या केन्द्रों में भारतीय भाषा तथा लिपि का अध्ययन करने के लिए भेजा। भारतीय भाषा तथा ध्वनि शास्त्र का पर्याप्त अध्ययन करने के पश्चात् 'थोनमी' स्वदेश लौट आये और उनका नाम 'थोनमी सम्भोट' पड़ा। सम्भोट का अर्थ तिब्बती भाषा का "सम्यग ज्ञान" है। तत्पश्चात् तिब्बती बोली को भारतीय ध्वनिशास्त्र के आधार पर लिपिबद्ध करने का कार्य शुरू हुआ और थोनमी को इस कार्य में सफलता मिली। बाद में उन्होंने तिब्बती भाषा में व्याकरण से सम्बद्ध आठ स्वतन्त्र ग्रन्थों की भी रचना की। तब से भोट भाषा में व तिब्बती भाषा में बुद्ध के उपदेश त्रिपिटक का अनुवाद कार्य आरम्भ हुआ। 'थोनमी सम्भोट' ने भी स्वयं कई सूत्रग्रन्थों का भोटभाषा में रूपान्तर किया।

तिब्बत के इतिहास में एक नये बौद्ध युग का आरम्भ करने का श्रेय वहां के १३वें महान् सम्राट् स्रोङ-ग्चन-स्गमयो और उनके प्रधानमन्त्री थोनमी को ही है। वह इस्लाम धर्म के संस्थापक मुहम्मद, कन्नौज के बौद्ध सम्राट् हर्ष और चीन के तीर्थयात्री ह्वान च्यांग का समकालीन था।

सम्राट स्रोङ-ग्चन-सगमयो के बाद उसके पांचवें वंशज ३६वें सम्राट ख्रि-स्रोङ-स्दे-गचन नामक बड़े ही धार्मिक तथा प्रभावशाली और तेजस्वी शासक हुए। उनका विचार सम्राट स्रोङ-गचन-स्गमयो द्वारा आरम्भ किये हुए बौद्ध-संस्कृति के विकास कार्य को और भी व्यापक रूप देना था। उन्होंने अपने शासनकाल में भारत के प्रतिष्ठित विद्वान नालन्दा महाविहार से

आचार्य शान्तरक्षित (जिवाछो) और पद्मासम्भव को तिब्बत में आमन्त्रित किया। इन दोनों आचार्यों के अतिरिक्त और भी अन्य कई भारतीय बौद्ध विद्वान यथा—आचार्य विमलमित्र, शान्तिर्गम, धर्मकीर्ति, बुद्धगुह्य, कमलशील आदि तिब्बत में निमन्त्रित किये गये।

इन भारतीय बौद्ध पण्डितों और तिब्बती विद्वानों, अनुवादकों व लोचानों के सम्पर्क और सहयोग से त्रिपिटक बुद्ध वचनों का भोट भाषा में सफलतापूर्वक अनुवाद हुआ। इन तीनों पिटकों पर टीकाओं और अनुवाद का भी सृजन हुआ। इन तीनों पिटकों पर टीकाएं और भाष्य भी लिखे गये।

ख्रिस्रोङ-स्देग्चन के पश्चात् तिब्बत का सम्राट ख्रिरलपाचन नामक ४१वां शासक हुआ। उन्होंने तिब्बत में एक हजार से कहीं अधिक विहार व गोम्पों का निर्माण कराया। सभी भिक्षुओं के लिए जीविकार्थ सरकार की ओर से प्रबन्ध कराया। इस प्रकार उन्होंने तिब्बत में बौद्ध धर्म के विकास तथा प्रचार-प्रसार कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनके राज्यकाल में भी अनेक भारतीय बौद्ध विद्वान वहां निमन्त्रित किये गये। जिन में से उपाध्याय जिनमित्र, सुरेन्द्रबौधि, शीलेन्द्रबौधि और दानशील मुख्य थे। तिब्बती विद्वान आचार्य रत्नरक्षित, धर्मशील, चोचावा ऐशेस स्दे (अनुवादक) और जयरक्षित आदि विद्वानों तथा भारतीय बौद्ध विद्वानों ने प्राचीन राजा-महाराजाओं के काल में अनुवादित भोट भाषा में जो त्रुटियां रह गई थीं, उनका संशोधन किया गया।

सम्राट ख्रिस्रोङस्देग्चन के बाद तिब्बत का ४२वां राजा गलङदरमा बड़ा ही अधार्मिक तथा अत्य:चारी राजा हुआ। उसने तिब्बत पर लगभग ५० वर्ष तक राज्य किया। उनके शासन काल में बौद्ध धर्म का बहुत ही ह्रास तथा अवनति हुई और प्राय: मध्य तिब्बत से बौद्ध धर्म लुप्त सा हो गया। गलङदरमा ने धार्मिक उत्सवों पर प्रतिबन्ध लगा दिया और भिक्षुओं को पुन: गृहस्थ जीवन में प्रवृत्त करने का आदेश दिया गया। उसके इन अत्याचारों से तंग आकर तथा निराश होकर आचार्य शान्तरक्षित के तीन शिष्य भाग कर "मदोस्यद", जोकि खम प्रदेश (*Province*) का एक प्रांत है, में चले गये। इस प्रकार के अत्याचार जनता अधिक समय तक सहन न कर सकी और जनता में विरोध तथा तीव्र प्रतिक्रिया होने लगी। जनता ने इसका बदला भी उसी वक्त लिया। एक दिन एक भिक्षु चुपके से राजा के पास घोड़े पर सवार होकर आया और उसने खासा से सीधा निशाना साध कर राजा गलङदरमा का वध कर दिया। तब से क्रमश: गलङदरमा के वंशजों का शासन प्राय: मध्य तिब्बत में क्षीण होने लगा और तिब्बत चारों ओर से कई भागों में विखण्डित होना शुरू हुआ।

गलङदरमा का वध करने के बाद 'मदोस्यद' से धीरे-धीरे मध्य तिब्बत देश से निकाले हुए भिक्षुओं का वापस आना शुरू हुआ और मध्य तिब्बत में पुन: बौद्ध धर्म का उदय हुआ। तब से पश्चातकालीन विकास का कार्य आरम्भ होता है।

'ल्हासा' (जोकि तिब्बत की राजधानी है) के अन्तिम शासक का राजकुमार 'दपल-आखोर-स्तन' पश्चिमी तिब्बत की तरफ भाग गया। वहां उन्होंने अपना एक स्वतन्त्र राज्य

स्थापित किया और अपने को वहां का शासक घोषित कराया। उसने लद्दाख, स्पुरङ और गुगे आदि प्रान्तों को अपने राज्य के अधीन मिला लिया। बाद में अपने तीन राजकुमारों को एक-एक प्रांत बांट दिया। इन तीनों राजवंशों में कई विख्यात शासक हुए। जिन्होंने पश्चिमी तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार कार्य निरन्तर कई शताब्दियों तक किया। इन तीनों राजकुमारों में से "ल्हछेन-दपलग्यी-भगोन" नामक राजा ग्यालपो ने लद्दाख में बौद्ध धर्म का दीपक जलाना आरम्भ किया। लद्दाख के इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि ल्हछेन-दपलग्यी-भगोन नामक ग्यालपो व राजा लद्दाख मङ्युल का सर्वप्रथम राजा के नाम से वर्णन मिलता है।

कहानी

मोह - भंग

—से० रा० यात्री

मुझे पत्थर वगैरह की अनगढ़ मूर्तियों को एकत्र करने का शौक है। सुबह को जब घूमने निकलता हूं तो काफी लम्बा निकल जाता हूं। मेरा निवास पहाड़ की तलहटी में है। कभी किसी पेड़ की जड़ मानवीय अथवा दानवीय शक्ल सूरत धारण करती पड़ी मिल जाती है तो कभी किसी शिलाखण्ड में कोई आकार उभरता नज़र आ जाता है। इन आकारों को मैं चाव से उठा लाता हूं और अपने लान के बीच में रख देता हूं। इस प्रकार मेरे पास अनेक मूर्तियों का संग्रह हो गया है। अपने कमरे की खिड़की से मैं इन प्रस्तर प्रतिमाओं की जब तब झांकी लेता रहता हूं। मुझसे जो लोग मिलने-जुलने के लिए यदा कदा आते रहते हैं वे भी मेरे संग्रह की भरपूर प्रशंसा कर जाते हैं।

एक दोपहर मैं ज्यों ही कमरे से बाहर निकल कर बरामदे में आया मैंने एक नौजवान को उन मूर्तियों को गहरे मनोयोग से जांचते-परखते देखा। मैं धीरे-धीरे लॉन की दिशा में बढ़ते हुए उसके ठीक सामने जाकर खड़ा हो गया तो वह एकाएक अचकचा उठा। उसका कद बहुत लम्बा था। वह खद्दर का गलेदार ढीला-ढाला कुर्ता और खद्दर का ही ढीला पाजामा पहने था। चप्पलों के अंगूठे वाले स्ट्रेप टूट कर खड़े हुए थे। अपनी विचित्र सी लापरवाही में वह अजीब उजबक सा दिखलाई पड़ता था।

मैंने उससे पूछा, "किससे मिलना है?"

"जी! जिनके नाम की बाहर तख्ती लगी है।"

"मैं ही हूं—कहिये", मैंने महसूस किया कि मेरा चेहरा एकाएक सख्त हो उठा है। मेरे एक मित्र विदेश से आज ही लौटे थे—वह मेरे ड्राईंगरूम में बैठे थे। मुझे उनसे अभी बहुत से मनोरंजक संस्मरण सुनने थे। मैं नहीं चाहता था कि कोई बगैर वजह मुझे घेर कर बैठ जाये—या अपनी रामकहानी ले बैठे। मैंने उसे हतोत्साहित किया "कहिये क्या काम है?" मेरी बात से उसके चेहरे पर विद्रूपमयी मुस्कान उभर उठी और वह थोड़े उद्धत भाव से बोला, "कम से कम यह साफ हो जाना चाहिए कि मैं आपके हस्ताक्षर एकत्र करने यहां नहीं आया

हूं कि झट से 'आटोग्राफ बुक' निकालूं और आपके सामने कर दूं। मैं शरीफ आदमी की तरह बैठकर बातें करना पसन्द करता हूं।" उसके चेहरे पर विद्रूप और भी कड़वा हो उठा। सहसा मुझे विश्वास नहीं हुआ कि कोई मुझसे ही मिलने आकर इस तरह की बातें कर सकता है। इसी समय मेरे मित्र भी बाहर निकल कर लॉन में आ गये थे। शायद आगन्तुक की बातें भी उन्होंने सुन ली थीं। हम दोनों को देखकर बोले "ठीक है भीतर आने दो—वहीं बैठकर इत्मीनान से बातें कर लेना।" और यह कहकर वह मुड़ गये। निदान मुझे भी उनके पीछे चल देना पड़ा। वह युवक भी मेरे पीछे पीछे अपनी चप्पलें घसीटता हुआ आया। कमरे के कीमती कालीन पर चढ़ने से पहले एक क्षण कुछ ठिठका और चप्पलें उतारने लगा।

"चप्पलें पहने पहने ही चले आइये।" मैंने सदाशयता से अधिक कूटनीति जतलाई क्योंकि मैं उसमें हीनता जगाकर उसके चेहरे पर दैन्य लाना चाहता था किन्तु उसने आंखें ऊपर उठाये बिना ही बेबाकी से कहा "क्या फायदा—कीमती कालीन यों ही फालतू में गन्दा हो जायेगा" और यह कहते हुए वह मेरे सामने पड़े सोफे पर आकर सहजता से बैठ गया। उसने भौंहों में किंचित बल डालकर मेरे मित्र का तथा मेरा चेहरा बारी बारी से देखा और फिर कमरे में सब तरफ नज़रें दौड़ा कर बोला "सब कुछ एकदम फर्स्ट क्लास और बेशकीमती है।'

मुझे उसकी यह टिप्पणी अटपटी, अत्यन्त अपमानजनक और बहुत नामाकूल लगी। उसकी आवाज़ भी बहुत शुष्क और करख्त थी। मैंने उसकी बात को एकदम अनसुना करके मित्र से बातें करनी शुरू कर दीं। वह उठकर खड़ा हो गया और 'मैन्टलपीस' पर रखी बुद्ध की प्रतिमा को देखकर बोला "बुद्ध और 'नाचघर' की याद दिलाती है।" उसकी बात सुनकर मैं सन्नाटे में आ गया—क्योंकि पास के कमरे से पियानो की आवाज़ आ रही थी। उस कमरे में कालेज के लड़के-लड़कियां मेरी एक 'गीतनाटिका' पर 'बैले' प्रस्तुत करने की तैयारी में जुटे थे।

उसकी बातों से मुझे बगावत और बत्तमीजी की बू आने लगी। मुझे लगा उसे मेरे बारे में जानने की जिज्ञासा कतई नहीं है—वह यहां केवल मेरा अपमान करने आया है। लेकिन मैंने सोचा इसके क्यों मुंह लगूं। साथ ही मुझे यह भय भी था कि अभी थोड़ी देर बाद मेरी पत्नी इधर से निकलेगी तो यह भी पूछ सकता है—"यह कौन है—आपकी श्रीमती जी ?"

मैंने अपने मित्र को एक सिग्रेट दी और खुद भी एक जला ली। थोड़ी देर बाद मैंने उससे यों ही पूछ लिया "अगर सिग्रेट पीते हो तो पीओ।" उसने स्वाभाविक लहजे में कहा "मैं पीता हूं—मगर अपना ही ब्रांड पीता हूं।" यह कहने के साथ ही उसने अपने कुर्ते की जेब से 'ढोलक छाप' बीड़ी का बंडल निकाला और एक बीड़ी जलाकर बंडल को मेरी महोगनी की 'टीपाय' पर रख दिया। उसने एक साथ इतना धुआं छोड़ा कि सारे कमरे में धुएं के बादल उड़ने लगे। बीड़ी पीते पीते वह सोफे पर पालथी लगाकर इस मुद्रा में बैठ गया गोया उसके सामने थाली परसी रखी है और वह भोजन करने वाला है।

मेरे मित्र जब उठकर जाने लगे तो एक बज रहा था और मेरे इस अयाचित मेहमान को आये भी काफी समय हो चुका था। मैं अपने मित्र को बाहर दरवाज़े तक छोड़कर कमरे में लौटा तो मैंने देखा कि वह मेज पर रखी बड़ी कौड़ी को चक्कर घिन्नी की मानिन्द घुमा रहा है। उसकी यह हरकत मुझे बहुत नागवार गुज़री—मानो उसके इस करतब से मेज की कांच ही चटक जाये तो? ये कौड़ी मेरे एक प्रशंसक ने मद्रास से भेजी थी और इस पर मेरा नाम भी अंकित था। मुझे लगा यह लड़का मेरी 'नेम प्लेट' देखकर मुझे खामख्वाह सताने चला आया है।

मैंने कमरे के बीचों बीच खड़े होकर चेहरे पर गहरी व्यस्तता लाकर पूछा "हां तो कहिये न मैं आपकी क्या खिदमत कर सकता हूं?"

वह कौड़ी को उलटते-पुलटते हुए बोला "कोई खास खिदमत नहीं करनी—बस एक दो रुपये दीजिए, आपका खाने का वक्त हो रहा है—फिर कभी बोर करूंगा। मैं कुछ दूर से आया हूं, मुझे पता नहीं था यहां आने में इतने पैसे लगते हैं। मैं उतनी दूर तक पैदल लौटकर नहीं जा सकता।"

मैंने उसे हैरत से देखा। वह निर्विकार भाव से खड़ा हुआ गोलमेजनुमा एक पेड़ के तने पर रखी 'शेषनाग' की मूर्ति देख रहा था। मैंने एक बार भी यह नहीं सोचा कि इसने मुझसे पैसे क्यों मांगे बल्कि मैंने दुविधा महसूस की क्योंकि मैं तो अपने पास पैसे रखता नहीं। उसे पैसे देने के लिए या तो नौकर को बुलाना पड़ता या पत्नी मीता को। इसके अलावा मैं रुपये पैसे का हिसाब-किताब एक जमाने से भूल चुका हूं। मेरे से अब कोई रुपया पैसा मांगने आता भी कहां है? वह जमाना न जाने कितनी दूर जा चुका था जब मैं लोगों से पैसे मांगता फिरता था और उधारिये मेरी जान को लगे रहते थे। पर अब मैं हर प्रकार से भाग्यशाली था और··· । आखिर थोड़ी देर बाद शोफर हमीद सामने पड़ा तो मैंने उससे एक कप काफी और पांच रुपया लाने को कहा। हमीद दोनों ही चीजें जल्दी से लेकर लौट आया। उसने मेज पर रुपये और काफी का प्याला अगल-बगल रख दिये। लड़के ने पहले दो रुपये उठाकर अपनी जेब के हवाले किए और फिर गर्म काफी को फूंक-फूंक कर पीने लगा। काफी खत्म करके वह उठा और मेरी ओर हाथ उठाकर बोला, 'अच्छा अब चलता हूं, फिर कभी आऊंगा।'

जाते समय उसने एक औपचारिक 'धन्यवाद' तक नहीं कहा और जेब से कुछ सिक्के निकाल कर मेज पर रख दिये। उसके जाने के बाद मैंने सिक्के देखे—एक आठ आने का और एक पांच पैसे का सिक्का था। यह क्या? लगता है वह सिर्फ अपने किराये भर के पैसे ले गया था। उसकी निर्लिप्तता ने मुझे आंखों ही आंखों में उसकी तस्वीर बनाने पर मजबूर किया। उसके मोटे कांचों का चश्मा, गालों की उभरी हड्डियां और असमय सूखती देह ने मेरे से कुछ ऐसे सवाल किये जिनसे बचने का मेरे पास कोई उपाय नहीं था। मैंने उसका नाम-धाम, पता-ठिकाना कुछ भी तो नहीं पूछा था।

एक शाम मेरे सेक्रेटरी ने आकर कहा—"फोन पर आपसे कोई बात करना चाहता है—मैंने उससे नाम और काम पूछा मगर वह यही रट लगाये हुए है कि दिवाकर जी घर पर हों तो उनको ही बुला दीजिये।"

मैं झुंझलाते हुए उठा और पैर पकटते हुए दूसरे कमरे में चला गया। मैं अपने कमरे में फोन नहीं रखता अगर रखूं तो एक मिनट भी चैन न मिले। मैंने थोड़ी उत्सुकता से फोन उठाया तो 'हैलो' कहकर कोई बोला "देखिये दिवाकर जी मैं आपसे मिलना चाहता हूं—उस दिन तो कोई बातचीत ही नहीं हो सकी—अगर आप आज खाली हों तो मैं चला आऊं।"

पहले तो मैं समझ ही नहीं पाया कि कौन बोल रहा है लेकिन आखिर उसका लहज़ा मेरी पकड़ में आ ही गया। मैंने पीछा छुड़ाने की गरज़ से कहा "नहीं-नहीं। भाई, आज मुझे क़तई फ़ुर्सत नहीं है—मैं कहीं जाने वाला भी हूं। फिर किसी दिन आ जाना।"

उधर से वह बोला "मगर अब मैं यहां तक तो आ ही गया हूं—आपके पास पहुंचने में ज्यादा देर भी नहीं लगेगी—अब आप ही देखिये मैं कितनी दूर से आया हूं।"

मैंने बीच में उसकी बात काटकर कहा "तुम अपना फोन नम्बर बतला दो—मैं किसी दिन खुद ही तुम्हें बुला लूंगा।"

वह मेरी बात पर ठठाकर हंस पड़ा "तो आपका खयाल है कि आपसे मिलने के लिए उत्सुक हर आदमी के पास फोन वगैरह की सुविधा है—आपके चाहने भर से मैं आपके सामने हाज़िर हो जाऊं—अभी इतना गौरवशाली मैं नहीं हो पाया हूं। आपकी मर्ज़ी। तो फिर मैं अभी न आऊं?"

मुझे लगा मेरी तरफ से कुछ ज्यादती हो रही है। मैंने न चाहते हुए भी उससे कह दिया "अच्छा दो-ढाई घंटे बाद आना। आज मेरे बेटे की बर्षगांठ है—कुछ लोग आयेंगे। तुम्हें फिर देर तक ठहरना पड़ सकता है।"

उसने 'ठीक है' कहकर फोन रख दिया।

पार्टी ठीक वक्त से शुरू हो गई। मेरी नज़र बीच-बीच में मुख्य द्वार की ओर चली जाती थी। जब मुझे यह याद आती थी कि मेरी आंखें किस कारण से द्वार की ओर चली जाती हैं तो मुझे अपने ऊपर गुस्सा आने लगता—कितने अदना से छोकरे का ध्यान मुझे तंग कर रहा है।

लगभग दस बजे जब सब मेहमान जा चुके थे और मैं अपने कमरे में कपड़े बदलने चला गया था तो उसने दरवाजे की घंटी का बटन कई सैकिंड तक दबाये रखा। मैंने दरवाज़ा खोला तो वह मेरे सामने बदहवासी में खड़ा दिखाई दिया। मुझे देखते ही उसने ताबड़तोड़ बोलना शुरू कर दिया "...बात ये हुई कि मैं रेलवे स्टेशन से पैदल ही चला आ रहा हूं—रास्ता जानता नहीं था—पूछते-पाछते आने में टाइम लग गया।" फिर इधर-उधर झांक कर बोला—"लगता है महफिल सूनी हो गई और आप भी विश्राम करने जा रहे मालूम होते हैं।"

मैंने उसकी कैफियत पर कोई टिप्पणी नहीं की और मेज की घंटी बजाकर नौक
को बुलाया। मैंने नौकर को दरवाजे में देखते ही आदेश दिया—"बैरे को बोलो इनके लि
खाने का सामान ले आये।"

उसने अपने आप ही कहना शुरू कर दिया "हां खाना तो आज चाहिए भी—पैदल
क्या कम चला हूं।"

बेयरा ट्रे में मिठाई, नमकीन और शर्बत की बोतल लेकर आया—उसने शर्बत का गिलास
उठाने की बजाय बेयरा के हाथ से ट्रे ही छीननी शुरू कर दी। उसकी धींगामुश्ती से बेयरा के
चेहरे पर बजाय परेशानी के एक विद्रूपभरी मुस्कान उभर उठी परन्तु मेरा गम्भीर चेहरा
देखते ही वह सकपका उठा।

खाने-पीने के बाद वह परम तृप्ति के भाव से बोला, "मज़ा आ गया—अब अगर आपके
ब्रांड की एक बढ़िया सिग्रेट भी मिल जाये तो जबरदस्त अय्याशी हो जाये।"

मैंने उसकी ओर सिग्रेट का पैकेट बढ़ा दिया। एक सिगरेट लेकर उसने जला ली और
मेरी ओर देखते हुए बेतकल्लुफ़ी से बोला, "आपकी पुस्तकें खूब बिक रही हैं मगर ऐसा लगता
है जैसे कुछ वर्षों से आप प्रेरणा से नहीं लिख रहे हैं। अपनी पहली कृतियों की तुलना में
इधर आप काफी कमज़ोर चीज़ें लिख रहे हैं।" और यह कहने के साथ ही उसने मेरी बरसों
पहले छपी कृतियों के सही-सही उद्धरण प्रस्तुत करने आरम्भ कर दिये। यही नहीं सद्यः
प्रकाशित पुस्तकों से भी कई स्थल सुना गया जो उसकी दृष्टि से अपेक्षाकृत कमज़ोर थे। अन्त
में निष्कर्ष सा देते हुए बोला—"पेशेवर हो जाने के बाद आदमी बस अभ्यास से लिखता चला
जाता है, अन्तस की प्रेरणा मरती चली जाती है।"

मुझे लगा...मेरे दिल में नुकीली बरछी उतरती चली जा रही है। आज तक बड़े से बड़े
दिग्गज आलोचक ने भी मेरे कृतित्व को लेकर ऐसी बेलाग और दो-टूक बात नहीं कही थी।
अपनी बात कहने के बाद वह मेरा चेहरा बहुत दिलचस्पी से पढ़ रहा था। मैंने उसकी
कटूक्ति पर एक शब्द भी नहीं कहा तो वह आगे कहने लगा कि अमुक-अमुक कृतियां बेजोड़
और अनूठी हैं—शायद उम्र के साथ आदमी के भीतर से बहुत कुछ अनाम ढंग से निकलता
चला जाता है—जिसे वह नहीं जान पाता। जान भी ले तो शायद अपने भीतर रोक नहीं
पाता। ठीक कहता हूं न? आपको मेरी बात बहुत बुरी लग रही होगी।" कहते हुए उसने
अपनी जेब टटोलनी शुरू कर दी। शायद वह अपनी टेंट में बीड़ी तलाश कर रहा था। मैंने
पैकेट उसकी तरफ बढ़ा दिया। उसने पैकेट हाथ में ले लिया पर सिगरेट नहीं जलाई। फिर
बोला—"लेकिन कड़वी बात कहना भी कोई कला नहीं है। मुझे यह सब कहने का कोई हक
नहीं है।" कड़वी लगने पर भी मुझे उसकी बातें रोचक लगने लगीं। मैंने बीच में एकाध बार
घड़ी देखी थी लेकिन अब उसे भी देखना छोड़ दिया।

बहुत देर हो गई कहते हुए बिना किसी औपचारिकता के वह यकायक उठकर खड़ा
हो गया और इस तरह चल दिया जैसे उसके शरीर में कोई यंत्र लगा हो जिसके दबा दिये जाने
पर फिर उसका ठहरना सम्भव नहीं है।

उसके जाने के बाद मैंने एक ऐसा नाटक लिखने की रूपरेखा बनाई जिसमें इस युवक की मानसिकता प्रतिबिम्बित हो सके। मुझे अपने घोर संघर्ष का काल भी याद आया लेकिन मैं इतना स्पष्ट और बेलाग उस दौरान भी नहीं था। मैंने एक ऐसे युवक की कल्पना की जो महत मूल्यों को समर्पित होगा। जीवन की क्षुद्रता से वह कभी कोई समझौता नहीं करेगा। अपने विसंगतिपूर्ण वातावरण और समाज के प्रति वह कटु और निर्मम होगा और निर्मल मूल्यों के लिए सतत संघर्ष करेगा। और मैंने रूपरेखा बनाते ही निश्चय कर लिया कि मैं इसी युवक को इस नाटक का नायक बनाऊंगा, स्टेज पर भी लाऊंगा।

•

···मैंने नाटक का प्रथम अंक लिख लिया था। उसे अन्तिम रूप देकर अभी दूसरा अंक शुरू करने की सोच ही रहा था कि सेक्रेटरी ने आकर कहा—"आपको फोन पर कोई बुला रहा है— समझाया भी मगर आपसे ही बातें करना चाहता है।"

मैं हठपूर्वक बैठा रहा—सेक्रेटरी मेरा मनोभाव देखकर चला गया। लेकिन मैं भीतर से अस्तव्यस्त हो उठा। तभी मैंने रामहेत माली को कुछ कहते सुना—"इस टैम साब काही सो नांही मिले हैं।"

"क्यों, क्या घर में नहीं हैं?"

"घर मा हैं पन कान मा बझे हुँय।"

"अरे भई तुम जाकर कहो तो सही—मुझे भी तो एक जरूरी काम से मिलना है।"

लेकिन माली मेरे पास नहीं आया। मैं देर तक बैठा अपना काम करता रहा। देर बाद जब मैं बाहर निकलकर आया तो क्या देखता हूं कि बाहर बरामदे में पड़ी कुर्सी पर वही बैठा हुआ है। उसकी दाढ़ी कई दिनों की बढ़ी हुई थी, मैले कीचड़ कपड़े थे, चप्पलें भी धूल से अटी पड़ी थीं। उसके चेहरे पर अजीब सा थकापन देखकर मुझे खेद हुआ। मेरे मुंह से निकला—"तुम बाहर क्यों बैठे हो भई? अन्दर ही आ जाते।"

"मालूम हुआ काम में हैं। सोचा बाद में ही मिल लूंगा।" वह थके स्वर में ही बोला।

मैंने यह जानने के लिए कि कहीं कटु होकर तो नहीं बोल रहा है उसका चेहरा ध्यान से देखा। दुर्बलता के अलावा उसके चेहरे पर व्यंग्य वगैरह का कोई भी भाव नहीं था। मैंने उससे कहा, "चलो अन्दर बैठते हैं—वहीं बातें करेंगे।"

वह मेरे साथ उठकर भीतर कमरे में आ गया और दीवान पर बैठ गया। मैंने पूछा "इतने दिनों तक कहां थे? क्या कहीं बाहर चले गये थे?" लेकिन उसने कहा, "मैं बस यों ही नहीं आया।"

मैं अपने भीतर उसके लिए बहुत उद्वेलित था—उसे बतलाना चाहता था कि मैं उसको लेकर एक नाटक लिखने जा रहा हूं लेकिन मैंने उसे कहते हुए सुना "···आज मैं आपके पास

एक खास काम से आया हूं।" वह अपना वाक्य अपेक्षाकृत ऊंची आवाज में एक सपाटे में बोल गया मानो उसे अपनी बात कहने की बहुत जल्दी हो। मुझे उसके मुंह से यह वाक्य सुनकर बहुत अचम्भा हुआ लेकिन मैंने अपना कौतूहल दबाकर पूछा, "कहो, क्या खास काम है ?"

"बात यह है," आज उसने पहली बार भूमिका बांधने की कोशिश की और उसके चेहरे पर यकायक संशय के बादल उमड़ आये। उसने दोबारा वही वाक्य दोहराया "बात यह है कि मैं एक काम से आया हूं।"

"कहो तो भाई," मैंने इस बार ज़ोर देकर कहा तो वह बोला, "···मेरे पिता बहुत लम्बे अर्से से अस्पताल में बीमार पड़े हैं और मेरी मां एक नारी निकेतन में छोटी मोटी नौकरी करती है, पिता की बीमारी किसी करवट नहीं बैठती सो अब निर्वाह··· ।"

मुझे एक अजीब सा आघात लगा—इसलिए नहीं कि उसका बाप असाध्य रूप से रुग्ण था, उसकी मां किसी आश्रम में दाई का काम कर रही थी बल्कि आघात इसलिए लगा कि मेरे नाटक का नायक लुप्त हो गया था। उसे लेकर मैंने न जाने कितनी कल्पनाएं और सम्भावनाएं खड़ी की थीं। एकाएक एक क्षण में मेरी सारी कल्पनाएं ढह गईं। मेरे नायक पर जो एक ऐसा दुर्दम कवच था कि उसे जीवन की साधारण परिस्थितियां छूने में ही समर्थ न हो पातीं—वह उन्हें हर हालत में रौंदता चला जाता।

अपने नायक को अपने मस्तिष्क में स्वरूप और आकार देते हुए मैंने एक बार भी नहीं सोचा था कि वह जीवन के टुचियल से अभावों से बिलबिला उठेगा। मेरी आंखों में मेरे चरित नायक की छवि धुंधली पड़ती चली गई और मैं बिना उसकी ओर देखे अपनी जगह से उठकर खड़ा हो गया।

दूसरे कमरे में जाकर मैंने यंत्रवत डायल घुमाना शुरू कर दिया। मैंने एक प्रकाशक को फोन किया था। उसके 'हैलो' कहते ही मैंने एक आदमी को खपाने की बात कही, "भेज दीजिये काम तो दे ही देंगे।" उधर से उत्तर आया।

मैंने लौटकर उसे प्रकाशक का पता बतला दिया और मैं कमरे से उठकर मकान के भीतर चला गया। जब मैं दोबारा कमरे में लौटा तो वह जा चुका था और पेपरवेट के नीचे दबे मेरे अधूरे नाटक के पन्ने पंखे की हवा से फड़फड़ा रहे थे। मैंने निश्चय किया कि अब मैं उसे लेकर अपना नाटक आगे नहीं लिखूंगा। मैं देर तक बैठा सोचता रहा कि क्या इतनी बड़ी दुनियां में ऐसा एक भी आदमी नहीं है जो रोग-शोक-नौकरी से उपराम होकर अपनी ही शर्तों पर जीवित रहता हो और मेरे नाटक का नायक बनने की असाधारण जिजीविषा रखता हो ? मेरा यह प्रश्न अनुत्तरित ही रह गया, शायद यह जबरदस्त मोह-भंग की स्थिति थी।

———

कविता

कल

—कुमार पुष्कर

मैं हर सुबह
तुम्हारे द्वार पर
दस्तक देता हूँ,
परन्तु तुम मुझे
दुत्कार देते हो,
कहते हो
तुम्हें मेरी ज़रूरत नहीं ।

जब तुम
आइने के समक्ष
शेव बनाते हो,
मैं तुम्हारी, आंखों के सामने
घूम जाता हूं—
तुम मुझे पुकारने को
आतुर होते हो,
मगर,
दाढ़ी की हटती परतों के साथ
तुम्हारी
स्मृतियों से हट जाता हूँ मैं ;
तब तुम मुझे भूल
दूसरे दिन में खो जाते हो ।

रात
फिर मेरी याद आती है
और
तुम दरवाज़ा खोल
मुझे पुकारते हो,
मुझे न पा कर सोचते हो
मैं जा चुका हूँ,
परन्तु,
मैं तुम्हारे द्वार से सटा,
अगले दिन की प्रतीक्षा करता हूँ,
ताकि तुम्हें बीत जाने का
बोध करा सकूं...

इसी प्रकार
हर सप्ताह, माह, वर्ष
उम्र के हर पड़ाव पर,
मैं तुम्हें छुप कर पुकारता हूँ,
क्योंकि,
मैं तुम्हारा बीता हुआ कल हूं ।

—

रिपोर्ताज

ऊंघती घाटी के लोग

—ज्योतीश्वर पथिक

बांसों का जंगल बांजल···एक ओर बसोहली के बौने पहाड़, सांप की तरह बलखाती हुई सड़क और कलकल करती बहती हुई रावी नदी। दूसरी ओर एक अछूती और ऐसी दुनिया जो अब तक नई सभ्यता से कटी-कटी है। यहां से प्रारम्भ होता है प्राकृतिक सौंदर्य की अपूर्व सम्पदा से परिपक्व, जम्मू प्रांत का "वनी खण्ड"।

गाड़ी के अंतिम पड़ाव—कोट से बांजल तक लगभग दो हज़ार फुट की सीधी चढ़ाई है। एक तंग सी पगडंडी सांप की तरह बलखाती आगे ही आगे बढ़ती हुई दिखाई देती है। हम लोग इस पगडंडी पर चढ़ाई चढ़ते हुए थक कर चूर हो रहे थे, एक भी कदम आगे चलना दूभर लग रहा था किन्तु स्थानीय लोग एक-डेढ़ क्विंटल बोझ अपनी नंगी पीठ पर लादे फलांगते हुए आगे बढ़ रहे थे। हांपते-कांपते हम अंततः रामचन्द की दुकान पर पहुंच जाते हैं। पं० रामचन्द चढ़ाई चढ़ कर आने वाले बटोहियों को जब मक्की की रोटी खिला कर पानी पीने के लिए देते हैं तो वह सचमुच देवता-स्वरूप लगने लगते हैं। उनके हाथ अपने काम में व्यस्त रहते हैं तो जिह्वा गुलेरी के शब्दों में 'बातों का मरहम लगाने में रस ले रही होती है।'

"बाबू जी यह बटर-टोस्ट हैं", शाह जी कहते हैं। वह अपनी बात पूरी करें, इससे पहले ही अपनी लम्बी दाढ़ी को अपने दोनों हाथों में सहेजते चौधरी जी व्यवधान डाल देते हैं— "शाह पैह्लों मिन्नां नसवार दे ना"। शाह'जी की कंजी आंखों का कैमरा चौधरी पर टिक जाता है किन्तु वह उससे कुछ कह नहीं पाते। कारण स्पष्ट है···चौधरी का डेरा बहुत बड़ा है। उसके पास चार सौ भेड़ें और डेढ़ सौ भैंसें हैं। वह गर्व से कहता है, "मिन्ना कोल तगड़ा भिड़ है बाबू जी। पूरे दस किलो ऊन देती हैं।" मैं अपलक उसे निहारने लगता हूं। धरती के बेटे—ये गुज्जर और बकरवाल—प्रकृति की गोदी में पक्षियों के समान चहचहाते हुए उन्मुक्त विहार करते हैं। सभ्यता की आधुनिक परिभाषा के अनुसार वे पिछड़े हुए हैं किन्तु वे अज्ञेय के "सांप" नहीं हैं, क्या यह कम संतोष की बात है?

काफिला वहां से आगे बढ़ने लगता है। उतराई के दूसरे मोड़ पर एक युवती सिर पर लाल रंग की टोपी और तन पर गहरे हरे रंग के कपड़े पहने अपने ही विचारों में खोई हुई, आने-जाने वालों से अन्जान, मस्ती के आलम में बैठी दिखाई देती है। ट्रांजिस्टर पर बजते फिल्मी गीतों की धुन में वह अकेली नहीं खोई है, आस-पास चरती भेड़ों पर भी गीतों का जादू काम कर रहा है। वे इस लड़की और ट्रांजिस्टर के आस-पास ही घूम रही हैं···लगता है जैसे कवायद कर रही हों। वह लड़की अपरिचित मुसाफिरों को अजीब जिज्ञासा भरी नज़रों से देख रही है।···

तीन मील की सीधी उतराई के बाद 'सत सर' अर्थात् सात झरनों वाला एक पहाड़ी नाला मिलता है। घने जंगलों से पेच खाती हुई थका देने वाली पगडंडियों की उतराई थी। थकावट के बाद झरने का पानी अमृत के समान महसूस होता है। इन घने जंगलों में बनफशी और लाल रंग के जंगली फूल अपना अनूठा सौंदर्य समेटे हैं। सतसर को देखकर पंडित बृज नारायण चकबस्त का यह शे'र याद आ जाता है—

रास्ते में पत्थरों ने है दिया पानी मुझे
ज़र्रा ज़र्रा है मेरे कश्मीर का मेहमां निवाज़

सतसर पर विश्राम करके कुछ ही दूर चलने के बाद हम सेवा नदी के किनारे पहुंच जाते हैं। यह नदी पहाड़ों से घूमती हुई आती है और यहां से कुछ ही दूर रावी नदी में शामिल हो जाती है। घने जंगलों के पूर्व में रावी नदी बहती है और उसके पार हिमाचल प्रदेश का ज़िला चम्बा फैला हुआ है। हिमाच्छादित पर्वतों की पृष्ठभूमि में घने जंगलों के बीच बहती हुई सेवा नदी नैसर्गिक सौन्दर्य की एक अनुपम छवि प्रस्तुत करती है। मेरे सहयोगी राम प्रकाश का कैमरा खुल जाता है और वह इस प्राकृतिक सौंदर्य को कैमरे में समेटने लगता है।

यहां से लगभग दो-डेढ़ मील तक पथरीली उतराई है। कदम संभल संभल कर रखना पड़ता है और फिर एक झरना—जहां आप बैठ कर थकान मिटा सकते हैं।

"बनी कितनी दूर है"—मैं वहां पर बैठे हुए चंद ग्रामीण लड़कों से पूछता हूं।

"अभी डेढ़ या दो घंटे का रास्ता है।"

"बाबू जी, क्या शहर से आए हो?"

मैं हां में गर्दन हिला देता हूं।

"थक गए हो ना।"

"हां भाई—" मैं हार मान लेता हूं।

"हम देहाती लोग हैं बाबू जी—हम इन पर्वतों से वाकिफ हैं। हम कभी नहीं थकते।" दूसरे क्षण वह लड़के उछलते हुए दूसरी ओर चले जाते हैं।

यहां से यात्रा सेवा नदी के किनारे शुरू होती है और दूर-दूर तक फैले हुए जंगलों के बीच पगडंडी एक लकीर की तरह प्रतीत होती है। सामने के पहाड़ों की तलहटी में फैले हुए

खेत, कच्चे छत्तों वाली झौंपड़ियां—यह सब देखकर रामप्रकाश का मन ललचा उठता है। वह तुरंत कैमरा खोल लेता है। सिने कैमरामैन जितेंद्र बख्शी भी ललचा उठता है—"काश, मेरा कैमरा भी मेरे साथ होता", वह कह उठता है और फिर मन ही मन अगले दिन की शूटिंग का ताना-बाना बुनने लगता है।

ऊबड़-खाबड़ घाटियों के बाद एक झूला पुल पार करके हम बेकन गांव में पहुंच जाते हैं। नेहरू युवक केंद्र के जिला संचालक कमल गंदोत्रा हमें देखकर दूर ही से चाय का आर्डर दे देते हैं। ग्रामीण दुकानदार जल्दी से लकड़ियां समेट कर आग जलाने लगता है और हम सभी टांगें फैला कर सुस्ताने लग जाते हैं। चाय की गर्म गर्म चुस्कियां लेने से थकान हल्की हो जाती है।

"यह सेवा नदी हमारी जान है बाबू जी।" दुकानदार कहने लगता है। "—कभी कभी बाढ़ आती है तो सब कुछ बहा कर ले जाती है—मगर हम फिर भी इसे प्यार करते हैं।" मुझे सहसा एक लोकगीत की पंक्तियां याद हो आती हैं—**सेवा नाले बगै ठंडा पानी हो।**

यहां पर लोकगीत गाने का अंदाज़ भी अनूठा है। ढोल, ताशे और बांसुरी का आरकैस्ट्रा एक समां बांध देता है। समूहगान के शब्दों के साथ लोग तालियों से ताल देते हैं और गाने वाले एक एक करके नाचने लगते हैं।



यहां की अधिकांश जनसंख्या गद्दियों की है। भद्रवाह-चम्बा और बसोहली की पहाड़ी संस्कृति का एक अनूठा संगम है यहां। यहां रंग-बिरंगी वेश-भूषाओं में गद्दी ललनाओं का रूप देखते ही बनता है। चांदी के आभूषणों का यहां पर भारी रिवाज है। गुज्जर ललनाएं हों या गद्नें—सब पहाड़ी नारियां चांदी के आभूषण पहने होती हैं। आदमी चांदी के छल्ले अपने कानों में पहनते हैं और अधिकांश ऊनी कोट अथवा ऊनी जेकेट के साथ पगड़ी बांधे होते हैं।

बेकन से बनी तक यात्रा का अंतिम चरण समाप्त होते ही मानव एक नये नैसर्गिक वातावरण में पहुंच आता है। सर्थल के पहाड़ों से सेवा नदी एक अल्हड़ युवती की तरह इठलाती हुई जाती है। इसका झागदार पानी पहलगांव की लिद्दर और भद्रवाह की नीरू नदी से किसी तरह भी कम नहीं। पहाड़ों के दामन में छोटे छोटे मकान दूर दूर तक फैले हुए हैं। गंदुम की खेतियां भी अपनी मस्ती में झूमती हैं। यहां के लोग परिश्रमी और सुडौल हैं मगर सिंचाई एवं भूमि के अभाव से यहां पर खेती बहुत कम होती है और अनाज दूसरे क्षेत्रों से लाना पड़ता है। बसोहली–बनी सड़क पर भूंड के पड़ाव पर अनाज का भारी भंडार मिलता है और खच्चरों इत्यादि की भीड़ रहती है। बरसात से पहले पहले काफी मात्रा में अनाज का भंडार वहां कर लिया जाता है क्योंकि पहाड़ी नालों में बाढ़ आ जाने के पश्चात यह क्षेत्र कट सा जाता है। यही हाल शीतकाल के दौरान होता है। सारे क्षेत्र को बरफ की चादर समेट लेती है। खेती-बाड़ी लगभग चार महीने हो सकती है और शेष आठ महीने इन्हें प्रायः

बेकार रहना पड़ता है···इस अवधि में यहां के लोग ऊनी कंबल बुना करते हैं। बनी के ऊनी कंबल राज्य और देश के अन्य भागों में काफी लोकप्रिय हो रहे हैं।

बनी के लोगों में बहुविवाह की प्रथा अभी तक चली आ रही है। यहां अब भी औरतों की तिजारत होती है और नारी के मूल्य के तौर पर दी जाने वाली राशि को मालिया कहा जाता है। गद्दियों के प्रायः मुकद्दमे एवं मामले औरतों को लेकर होते हैं। बहु-विवाह की प्रथा ने इन लोगों के स्वास्थ्य पर भी बुरा असर डाला है। प्रकृति के सभी वरदानों के बावजूद यहां के लोगों के चेहरे पर प्रायः पीलापन है और बहुत से लोग आतशिक एवं सोज़ाक जैसी भयानक बीमारियों के शिकार हैं। सरकारी तौर पर अब इन बीमारियों की रोकथाम के लिए पग उठाए जा रहे हैं।



बनी पहुंचते ही सिने छायाकार जितेन्द्र बख्शी ने अपना कैमरा तैयार कर लिया था। कैमरा ब्वाय मजीद और बख्शी प्राकृतिक सौंदर्य की इस छवि के छायांकन में व्यस्त हो गए। दूर दूर की पहाड़ी ढलवानों से ढोल, ताशे और शहनाईयां बजाते आते हुए लोगों की छवि समेटने के लिये वह टैली-लैन्ज़ का प्रयोग कर रहा था।

यहां की युवा पीढ़ी को भी अब अपने अधिकारों का ज्ञान होने लगा है। अब वह शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाने के लिये तत्पर रहती है। यहां के युवक श्री ताराचंद पाधा को किसी भी राजनैतिक संस्था में विश्वास नहीं। उसका कहना है—"ये सब वोटों के लिये लड़ते हैं, कोई हमारी गरीबी की बात नहीं सोचता।" ज़िला विकास बोर्ड में यहां के सदस्य सरकारी अफसरों को आड़े हाथों लेते हैं।



सायंकाल को यहां के मौन एकान्त में एक अनोखी मादकता होती है। जैसे सारी की सारी घाटी एक गहरी निद्रा में मग्न हो। कहीं पर बिजली की चकाचौंध नहीं, गाड़ियों का शोर नहीं—बस सायं सायं हवा और सेवा नदी का कल-कल शोर।

नदी के किनारे फारेस्ट रैस्ट हाऊस के पिछवाड़े में कुछ अधिकारी कैंप फायर जलाए बैठे हैं। अपने बीवी-बच्चों से दूर इनकी अपनी ही एक दुनिया है। एक-एक करके चुटकुले सुनाए जा रहे हैं और हर चुटकुले के अंत में हंसी का एक फव्वारा सा छूट पड़ता है। ज़िलाधीश सत्यलाल कौल चुटकुले सुनाने में अग्रणी हैं। प्रशासन की कोई समस्या हो या कोई अन्य जटिलता, उनके चेहरे से मुस्कुराहट कभी गायब नहीं होती। उनके इस स्वभाव ने उनके विरोधियों के दिलों को भी जीत लिया है। सामाजिक संगठनों एवं अन्य सभाओं में वह सभी लोगों के साथ घुलमिल जाते हैं। साथ में पुलिस कप्तान अब्दुल मजीद लोन बैठे हैं। वह मौन स्वभाव के गंभीर व्यक्ति हैं परन्तु सभा में हल्की सी मुस्कान के साथ सभी का साथ देते हैं। उनसे चुटकुला सुनाने का अनुरोध किया जाता है तो वह झट से कह उठते हैं—"यह

काम डी० सी० साहब के जिम्मे लगा रखा है । वह हम सब के मुखिया हैं ।" डी० सी० साहब (जिलाधीश) तुरंत एक चुटकुला सुनाकर उनके इस कथन की ताईद करते हैं—

"एक पत्रकार अपने मित्र को घर में लाता है । अपने बड़े लड़के को बुलाकर कहता है—"यह लीड है ।"

दूसरे लड़के को सम्बोधित करके कहता है—"यह हैडलाईन है ।"

और सबसे छोटे लड़के को निर्देश करके कहता है—"यह स्टॉप प्रेस है ।"

एक ज़ोरदार ठहाका वातावरण में गूंज उठता है ।

रात्रि का भोज बनी के खंड विकास अधिकारी श्री कोहली की ओर से था । वह एक कुशल प्रशासक के अतिरिक्त अच्छे गायक भी हैं । सबके अनुरोध पर उनकी भावुक आवाज़ में ग़ज़ल गूंज उठी—

अबके बिछुड़े की शायद ख्वाबों में मिलें
जैसे सूखे हुए फूल किताबों में मिलें ।

इसके बाद बारी आती है कमल गंदोत्रा, सरदार एस० एस० जौहर और जिलाधीश श्री कौल की ।

महफिल समाप्त हुई और खाने के बाद सभी अपनी अपनी जगह सोने के लिये चले गए ।

●

दूसरे रोज़ मैं बांजल पहाड़ पर खड़ा इस ऊंघती हुई घाटी को निहार रहा हूं । तेज़ हवा के झोंके एक ओर से दूसरी ओर जा रहे हैं । एक ओर बसोहली से आती हुई सड़क सांप की तरह बल खाती हुई दिखाई दे रही है । दूसरी ओर खामोश और ऊंघती घाटी सड़क के आने की प्रतीक्षा कर रही है ताकि वह भी नये युग की जागृति से हमकिनार हो सके । दूर कहीं किसी गडरिये का उड़ता हुआ स्वर वातावरण में मादकता भर रहा है—

धारे धारे फुल्लरे गुलाबे हो !
देना मारी गल्लरे जवाबे हो !!

———

कविता

जम्मू

—राकेश मोहन

दिन में—

जैसे हम
खड़े हों
समुद्र के तीर पे,
दूर से आता हो
वाष्पी जहाज
पहले दिखाई दे
उसका
ऊपरी भाग
फिर ··
धीरे-धीरे सम्पूर्ण···
और उसने
लंगर डाल दिये हों।

——

रात में—

एक विशाल गजराज
पीठ पर उसकी
है एक पालकी
हीरे-जवाहरात से जड़ी···
और गजराज
खड़ा है
नदिया तीरे—
पानी पीने।

——

कहानी

अप - शकुन

—अवतार कृष्ण राज़दान

आज फिर इन्दु मिली, वर्षों बाद। रास्ते का वही चौक था जहां पर मैंने उसको पहली बार देखा था और वही कपड़े जो उस समय वह पहने थी। इसलिए इस भारी भीड़ तथा धक्कमपेल में यही एकदम अलग प्राणी है—इन्दु—यह पहचानने में कठिनाई नहीं हुई। वह मुझे मिली और कुशल-क्षेम पूछने के बजाय कहने लगी—विजय! क्यों मेरी बसी-बसायी दुनिया को जान-बूझकर वीरान-उजाड़ कर रहे हो? मुझे दे दो शरण फिर अपनी इन आंखों में, ताकि मेरा प्रत्येक क्षण, प्रत्येक शब्द तथा प्रत्येक उलझन सुन्दर-सी लगने लगे। ज़िन्दगी जीने के लिए यही मेरा एकमात्र सहारा है वरना आप ही बताइये इन बेबस-बेसहारा सांसों का क्या मूल्य है?''

मैं जानता था कि वह मुझे कभी ज़रूर मिलकर पकड़ लेगी। उसके मेरी आंखों में स्थान मिलने से क्या, वैसे मैं स्वयं जानता और चाहता भी हूं कि वह मेरे और मेरी पत्नी के आपसी रिश्ते के सीमा-बंधन को तोड़कर फिर मिले। और जब मैंने उसको देखा तो अनकही खुशी के कारण मेरे मुंह से दो शब्द भी न निकले। किन्तु उसने कहा—'विजय! ज़रा सुनो, मैं आपके पास वासना की प्यास बुझाने नहीं आती थी, न आऊंगी। बस, योंही...'

कैसे कहूं, आज तक उसके प्रति मेरे मन में इस तरह का विचार-अंकुर कभी नहीं फूट सका। वास्तव में उसका और मेरा नाता तो कुछ नहीं। केवल मैंने उसको ननिहाल के पड़ोस की शादी में देखा था जब वह पंद्रह-सोलह वर्ष की थी। उसके बाद वह मुझे काफी अरसे के बाद मिली, पुरानी जान-पहचान उभर आयी और इस प्रकार दोनों में एक नाते की भावना निर्मित हो गयी। फिर भी मैं उसको न तो बहन मानता था और न ही बहन मानने की कल्पना करता क्योंकि मेरी अपनी सगी बहन है। उसको प्रेयसी कहना भी ठीक नहीं रहेगा क्योंकि शादी के बाद ही सही, मैं अपनी पत्नी से प्रेम करता हूं। और हां, उसको एक 'गर्ल फ्रैंड' के रूप में भी स्वीकार नहीं करूंगा क्योंकि अब मेरी वह उम्र नहीं रह गयी है।

मैं अपने घर-बार में सुखी हूं, दो बच्चों का पिता भी। किन्तु समझ में नहीं आता कि आखिर वह कौन सी शक्ति है जिसके द्वारा हम दोनों का भाव-विश्व गुंथ गया है। पिछले कई वर्षों से मेरा उससे न मिलना या उसका मेरे घर पर न आना—यह सब अजीब-सा लगता है।

पर इसमें मेरा कोई दोष नहीं। यदि दोष है तो उस अन्धविश्वास का, जिसका हर नियम हम पालने के लिये तैयार रहते हैं। जीता तो हर कोई है किन्तु सही जीने का नियम वह नहीं जानता। हर किसी के लिए मृत्यु निश्चित है किन्तु सभी जीने की ही कल्पना करते हैं फिर भी इसके नाम से घबराते हैं। इससे दूर भागने के लिए सारी उम्र प्रयास करते हैं। किन्तु मृत्यु—यह एक अवश्यंभावी सत्य है और इससे दूर भागना मनुष्य-मात्र की कायरता है। ऐसा सोचकर जब मुझे इन्दु का ख्याल आता तो ये सभी बातें पहेलियों-सी लगती। पिछले कई महीने से मैंने कई मृत्यु समाचार सुने, कई अमवात आंखों देखीं। सोचता हूं, जीवन के इस खेल के बीचों बीच एक इन्सान कैसे उठा लिया जाता है ? क्या उसको मृत्यु की खबर लग जाती है ? और फिर आधे छोड़े खेल का क्या हो जाता है ? खेल रचने का भी कोई अर्थ है ?

किन्तु कौन समझाये कि इसका भी अपना अर्थ है। जीवन की बलिवेदी पर किसी का मृत्यु के सीने से लग जाना निरर्थक नहीं। इसका सार तो मुझसे ज़्यादा इन्दु ही जानती है जिसका पता मुझे उस दिन चला जब वह मुझे हब्बाकदल पुल के इस पार पहली बार मिली। मैं चौंक गया उसको देखकर। शादी के पहले का उसका वर्ण ! किन्तु आज वह विवाहिता थी। एक प्रौढ़ स्त्री। सफेद साड़ी पहने। सादा जूड़ा बनाये हुए। ललाट पर बिंदिया नहीं थी। चाल में अजीब भारीपन था। इस पर भी मुझे लगा कि यह इन्दु है औ मैं रुका। जब वह बिल्कुल मेरे सामने से गुज़री तो मैंने आवाज़ देकर सिर झुकाते हुए पूछ लिया—'माफ कीजिए। आपका नाम तो…'

'इन्दु है। हां, आपकी यादाश्त सही है।' उसने बात को काट कर कहा।

'इधर कहां ?' —मैंने आश्चर्यचकित होकर इस प्रकार पूछा जैसे उसको कई वर्षों से जानता था।

'यहीं आस-पास के मोहल्ले में रहती हूं न। पहले कलकत्ता में थी किन्तु… ।' —उसने कहा।

सच मानिए, मैंने कलकत्ता के सिवाय और कुछ नहीं सुना क्योंकि सिरे से लगे ठेले वालों का शोर सबों के कान काट रहा था। बात को टाल कर बस यों ही कहा—'कलकत्ता से कब आयी हो ?'

'बस, छः-सात महीने हो गये'—उसका छोटा-सा उत्तर था।

इतने में वहां भीड़ बढ़ने लगी। धक्कमपेल ! हम सड़क के एक तरफ एक-साथ चलने लगे। चुपचाप ! मैं सोच रहा था कि उसको अपने घर पर बुलाऊं, इतने में वह बोली—'आप भी शायद यहीं-कहीं रहते हैं ?'

'हां, उस गली के छोर का आखिरी मकान' । —मैंने अंगुली से दिखाते हुए तथा चेहरे पर मुस्कान बिखेर कर कहा ।

'अच्छा'—उसने पहले आश्चर्य प्रकट किया फिर कहने लगी—'तो फिर आपके घर ज़रूर आऊंगी ।'

'बिल्कुल, आ सकती हैं'—मैंने चेहरे पर फिर मुस्कान लाकर कहा, 'किन्तु एक बात मैं भूल गया'—मैंने आत्मीयता से कहा ।

'क्या ?'—उसने उत्सुकता से पूछा ।

'तुम्हारे मिस्टर न···वे क्या करते हैं ?' —मैंने उसकी ओर ध्यानपूर्वक देखकर कहा ।

यह सुनकर उसके पांव कुछ लड़खड़ा गये । चेहरा फक् पड़ गया । फिर आंखें नीचे झुकाये, लम्बी सांस लेकर वह कहने लगी—'वे अब नहीं रहे । कलकत्ता में उनका···'

मैं हतबुद्धि-सा होकर रह गया । कहा—'क्षमा कीजिए । मुझे पता न था ।'

मुझे यह सब, कुछ अजीब-सा लगा । बुरा भी । उसको दुःख हुआ । अभी-अभी वह उसका मुस्कान बिखेरता चेहरा और कुछ क्षण में ही उस पर यह पीलापन । फिर भी वह संभल गयी और पग धीरे-धीरे आगे की ओर बढ़ाकर सामने वाली गली के नुक्कड़ पर सहसा रुकी । कहने लगी—'मुझे इस गली से जाना है । कभी आऊंगी मैं आपके घर । इसी से जान-पहचान होती है न ! कुछ तसल्ली भी ।'

'ज़रूर आना, मेरी कसम । और हां, मैंने तुमको बेकार ही···'

उसका चेहरा फिर अजीब-सा हो गया । उग्र और व्याकुल । फिर वह गली की ओर मुड़ी और मैं उसको तब तक देखता रहा जब तक वह इसके अंतिम छोर तक न पहुंच गयी । मैंने उसके दुख को पहचान लिया था और अब स्वयं दुखी था ।

किन्तु यह मात्र अहसास था । इस प्रकार की किसी दुखियारी के प्रति मन में सहानुभूति का उद्‌घोष होना स्वाभाविक है । मगर मेरी समझ में नहीं आता कि जब पत्नी ने यह सब सुना तो वह थर-थर क्यों कांप गयी । उसने खूब आंसू बहाये । फिर मेरी ओर ऐसे देखा जैसे मैं कोई खोयी हुई वस्तु थी जो उसने फिर से पा ली है । किन्तु मैं खोया हुआ नहीं था बल्कि उसके सामने था । साकार रूप में ! हट्टा-कट्टा ! स्वस्थ !

मुझे उसका यह रूप देखकर अजीब-सा लगा । आश्चर्य भी कुछ कम नहीं हुआ । कुछ क्षण के लिए उसकी ओर देखता ही रहा । बाद में, बात को छेड़ कर कहा—'जीवन बहता पानी है । तू मान या न मान । इन अकस्मात मौतों की भी अपनी रंगीनी है ।'

'अप-शकुन'—उसने मेरे मुंह पर हाथ रखकर विनती की कि ऐसा प्रसंग फिर से मत छेड़ो । मेरा चेहरा तमतमाया । समझ में कुछ नहीं आया कि वह क्या कह रही है । मतलब

क्या है उसका इस तरह कहने में ! मेरा मन एकबारगी दूसरी तरफ मुड़ गया। सोचने लगा कि यदि इस पल मेरी अकस्मात मृत्यु हो जाए तो ज़िन्दगी का खेल वह कैसे खेलेगी ! और फिर कब उसके मन में अप-शकुन का यह भयावह अंधकार प्रकाश में बदल जाएगा ? किन्तु मैंने मन से यह खयाल एकदम निकाल दिया और भगवान की कृपा से अब तक प्रतिक्षण मेरी सांसें चलती हैं। ज़िन्दगी बहती है एक निर्झरी की तरह और बहती जाएगी, शायद तब तक, जब तक इसका स्रोत सूख न जाए। किन्तु इसकी बहती निर्झरी में जो घटनाएं बड़े-बड़े गोलाकार पत्थरों की भांति इसकी निचली सतह को ठोस बनाने में सहायक सिद्ध हुई हैं, उनमें इन्दु के साथ हुई यह घटना भी शामिल है।···

वह मेरे घर नियमित रूप से आने लगी। अपने को खुश करने या मेरी पत्नी को रुलाने। या यह दिखाने कि उसका पति चल बसा है और मैं प्रतिक्षण मौत को टालकर बच रहा हूं। एक दिन वह यों ही कहने लगी—"कल भाभी को आसमानी रंग की साड़ी पहने आपके साथ नाज़-व-अंदाज़ में नये अमीराकदल पुल पर चलते देखा तो मैंने भी उसी रंग की साड़ी खरीदकर पहनी और उसी नाज़-व-अंदाज़ से डग भरते हुए पुल को पार किया—एक बार, दो बार और तीन बार। किन्तु मेरे साथ और कोई नहीं था"—उसने मेरी ओर देखा और चेहरे पर एक अजीब-सी मुस्कान बिखेर ली। किन्तु मैंने सिर झुका लिया। इसके बाद वह उठी और मेरे कमरे में झाड़ू लगा दिया। मेरे कपड़े खूंटियों पर सलीके से रखे। मेरे दो बेटों को खूब चूम कर प्यार दिया। और अंत में मेरे छोटे-से रसोईघर में आकर पत्नी के हाथ से बर्तन छीन लिये और उनको मांझने लगी।

यह कैसी स्फूर्ति ! यह कैसा व्यवहार ! उस वक्त उसको देखकर ये सारे प्रश्न मेरे मानस-पटल पर आ धमके। समझ में कुछ नहीं आया, ऐसा क्यों है ? पत्नी मेरी ओर देखने लगी, किन्तु मैंने सिर झुका लिया। फिर भी मुझे कुछ आश्चर्य नहीं हुआ। कौतुक-सा होने लगा। पति-सेवा, घर-गृहस्थी, बाल-बच्चे—यह सब तो उसने देखा नहीं है। इसलिए तो उसको मेरा घर-बार देखकर खुशी महसूस हो रही है। ऐसा भी हो सकता है कि वह मुझमें पति की, मेरी पत्नी में अपनी और मेरे बच्चों में अपने बच्चों की छवि देखती हो। और हां, इस समय तो मुझे इस बात की सर्वाधिक खुशी हुई कि उसके व्यवहार में खुलापन आने लगा है। उसमें सब कुछ अच्छा-अच्छा-सा लगने लगा और उसके चले जाने के बाद जब मैं पत्नी को यही बातें सविस्तार समझाने लगा तो वह मेरी एक भी सुनने को तैयार न हुई। उसके मुंह से केवल एक शब्द बार-बार निकला—'अप-शकुन !'

अप-शकुन क्यों ? —मैंने यह बात बार-बार उससे पूछी किन्तु वह इसका सही-सही उत्तर न दे पायी। केवल अपनी सूझ-बूझ से इन्दु के लिए घर के द्वार बन्द कर दिए और मुझ पर निगरानी कड़ी कर दी और यहां तक कि एक ऐसा वातावरण बनाने में सफल हो गयी कि मैं इन्दु से न मिल पाऊं। जैसे मेरा उसके साथ नयी शादी करने का विचार हो और वह इस बात से डर रही हो

किन्तु आज मुझे इन्दु मिली, वर्षों बाद। यदि पत्नी को इसका पता चले, सोचता हूं, वह ज़रूर अप-शकुन कहेगी। अप-शकुन—एक अपराध भावना! दिल में छुपा हुआ डर? एक दकियानूसी ख्याल! आत्मा का बोझ-मात्र—इससे बढ़कर मेरे पास इस शब्द का कोई नया अर्थ नहीं है। यदि कोई जीवन के बल पर जी पाये, उसके जीवन की रुकी हुई घड़ी टिक-टिक करने लगे, मुर्झाया चेहरा फिर से मुस्कान बिखेर दे तो इसमें क्या दोष! यही सोचकर न जाने मैं किन बयाबानों में भटक जाता हूं। मेरे मन में ये सभी बातें एक गुत्थी-सी बनकर रह जाती हैं जिनका कहीं कोई समाधान नहीं···।

आखिर ऐसा कब तक? पग-पग पर मुझे पत्नी के आदर्शों का पालन कब तक करना होगा। मेरे भी तो अपने आदर्श हैं, उसूल हैं। और जिसकी बेबस, बेसहारा सांसें मुझे देखकर चलती हैं, मैं कोई ऐसा संबल नहीं जुटा पाता जिससे उसके लिए ऐसा कुछ कर सकूं कि उसकी इच्छापूर्ति हो सके। किन्तु आज मैं पूरी तरह जान गया हूं कि इन्दु की वीरानी मेरी है—यह बात मेरी पत्नी को भी अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। उसके मन में मेरे साथ प्रेम-रस का जो भारी-भरकम पेड़ उग आया है, क्या इन्दु की अनुपस्थिति में उसकी डालियां अपने-आप सूख जायेंगी और अंत में क्या होगा, विकलांग पत्ते इसको बेडोल बनाएंगे और प्रतिवर्ष नौ-बहार में भी इसके सर-सब्ज़ होने का प्रश्न ही उत्पन्न न होगा।

नहीं, मैं ऐसा नहीं होने दूंगा। अभी मुझे इस पेड़ के हज़ारों बहार देखने हैं। यह तभी संभव है जब इन्दु फिर मेरे घर आयेगी। मैं बड़ी व्याकुलता से उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा हूं जब उसके साथ पहले की तरह भागती मुलाकातों का सिलसिला शुरू हो जाएगा। वह यहां आये मेरी ज़िन्दगी देखने, मेरा अस्तित्व परखने। और यह सब देख मेरी पत्नी के मन में उसके प्रति बंधी अप-शकुन की गांठ अपने-आप खुल जाए···आह! कब आयेगा वह दिन?···

———

कहानी

मधुवन

—शिव रैना

प्रेम किशोर को देखते ही मैंने तुरन्त पहचान लिया। ठीक दस वर्ष बाद देख रहा हूं। वही लम्बा कद, इकहरा चुस्त बदन और मोहक मर्दाना मुस्कान।

''राम-राम, प्रेम भैया !'' मैंने अभिवादन किया।

''राम-राम, भैया। अरे, मनोहर तुम !'' उनके सांवले चेहरे पर ताज़गी दुगुनी हो गई, ''कब आए तुम ? बड़ी खुशी हुई देखकर। सुना है, तुम पोस्टमास्टर बन गए हो पंजाब में।''

''हां, भैया। तुम्हारा आशीर्वाद है। कल ही छुट्टी पर घर आया हूं। कहो, तुम सब लोग तो ठीक हो ना ?''

''हां, मनोहर। सब ईश्वर की कृपा है। मेरी पत्नी राधा तीन वर्ष पहले स्वर्ग सिधार गई थी। हैज़ा हो गया था।''

''ओह, बड़े अफसोस की बात है, भैया !'' मेरी आंखों में आंसू आ गए, ''कितनी अच्छी थीं भाभी ! साक्षात देवी थीं। बच्चों की तरह मानती थीं हमें।''

''अच्छी तो सचमुच थी, रे। लेकिन मेरे साथ उसका इतना ही साथ बदा था। चलो, यह क्या कम है कि वह दो होनहार सपूतों और सुखी घर की दौलत से मुझे मालामाल कर गई है ?''

''लड़के क्या कर रहे हैं, भैया ?'' मैंने विषय बदला।

''सोमनाथ सेना में कप्तान बन गया है और बलदेव राज बी० ए० के बाद खेती-बाड़ी करता है।''

''बहुत खूब ! लड़के होनहार निकले हैं।''

"सब कर्मफल हैं, प्यारे। अपने कर्मों की फसल काट रहे हैं हम सब। अच्छा किया, अच्छा फल मिला। बुरा किया, बुरा भरा। मैं तो संसार को कुरुक्षेत्र का मैदान समझता हूं, रे। हर घड़ी यहां महाभारत-जैसा संघर्ष छिड़ा रहता है। अच्छा खैर, अब यहां तक आए हो, तो घर चलें। वहीं बैठ कर बातें करेंगे।"

"नहीं, आज मुआफी चाहता हूं। कल शाम को तुम्हारे हां ज़रूर आऊंगा, भैया।"

"ठीक है। तो फिर दुपहर को आओ और खाना भी वहीं खाना। देखना, कितना अच्छा खाना बनाता है तेरा यह रंडवा भाई।"

अगले रोज़ दुपहर को मैं प्रेमकिशोर के घर पहुंचा। उसने मेरा भरपूर स्वागत किया। लस्सी और दलिया पेश किया। छोटा लड़का बलदेव राज घर पर था। मैंने खाना खाते हुए कहा, भैया, आज तुम कुछ उदास लग रहे हो।"

"अरे नहीं!" मुस्करा कर प्रेमकिशोर बोले, "मेरा और उदासी का क्या साथ, भला? जीवन मर-मर कर काटने का नाम नहीं। हां, आज फौज से चिट्ठी आई है, कि जीप-हादसे में मेरे कप्तान बेटे की दाईं टांग टूट गई है।"

"बड़ा दुःख-भरा समाचार है, भैया।" मैं खाते-खाते रुक गया। मेरा बदन सुन्न होकर रह गया था।

प्रेमकिशोर शान्त स्वर में बोले, "दुःखी होने की कोई बात नहीं है, रे। जिस परमात्मा ने हमें इतना कुछ दिया है, वह थोड़ा दुःख-दर्द भी दे दे, तो सहन करना ही चाहिए।"

फिर दूसरे दिन पता चला, कि प्रेमकिशोर के छोटे लड़के को खेतों में एक विषैले सांप ने काट लिया है। कलेजा धक्-से रह गया। मैं भागा-भागा प्रेमकिशोर के घर पहुंचा। अचेत बेटे का सिर गोद में रखे, वह बड़े यत्न से फर्स्ट-एड दे रहा था। कई देहाती लोग आस-पास जमा थे और उसकी मदद कर रहे थे। प्रेमकिशोर स्वाभाविक स्वर में बोले, "फिक्र की कोई बात नहीं। अब खतरा टल गया है। डॉक्टर साहब को बुला भेजा है। वह भी पहुंचने ही वाले होंगे।"

"तुम्हारे जैसे आदर्श जीव के लिए भगवान इतने दुःख क्यों पैदा कर रहा है, भैया!" बलदेव राज के सिर पर तेल लगाते हुए मैंने कहा।

बेहोश लड़के का गाल थपथपा कर, वह बड़बड़ाए, "ये दुःख नहीं, हमारे सब्र के इम्तेहान हैं, भैया। ज़िन्दगी को हादिसों का हुजूम समझना भूल है।"

"काश कि सब लोग तुम-से बन जाएं, प्रेम भैया!"

"यह कौन-सा कठिन काम है? खिली-खिली रौशन धूप, खुले आकाश और प्यारी-प्यारी धरती के होते हुए, इन्सान दुःखी हो भी क्यों? तमन्नाओं की आग और आस के फूलों के बिना ज़िन्दगी नरक ही तो है।"

उसी समय डाकिए ने एक तार प्रेमकिशोर को थमा दिया। साथ में मनीऑर्डर भी था।

मैंने तुरन्त तार पढ़कर सुनाया। लिखा था, कप्तान सोमनाथ की टांग की हड्डी नहीं, केवल मांस टूटा है और वह सकुशल हैं। प्रेमकिशोर ने हाथ जोड़ कर भगवान को धन्यवाद दिया। उसी समय सॉइकिल पर डॉक्टर आ पहुंचा। उसने बलदेव राज को इंजेक्शन लगाया और कुछेक कैपसूल खाने को दिये। वह भी खतरे से बाहर था।

थोड़ी देर बाद मैंने इजाज़त चाही। प्रेमकिशोर चहके स्वर में बोले, "चाय पिए बिना मत जाना, मनोहर भैया। मेरे दोनों बेटे बाल-बाल बचे हैं। मुंह मीठा करके जाना।"

मैं अचरज से उस पिता का मुंह देख रहा था, जिससे टकरा कर रंजो-गम भी पाश-पाश हुए जा रहे थे। चाय और गाढ़े खोए की मिठाई मेरे सामने पड़ी थी। प्रेमशंकर एक पेड़ा बलदेव राज के मुंह में देकर 'हो-हो' करके हंस पड़े और बोले, "ज़िन्दगी का पहिया हमेशा आगे की तरफ बढ़ता है। आशा से पुरलुत्फ और संजीवनी कोई चीज़ नहीं है।"

घर लौटते समय मैं सोच रहा था, शहर में सब कुछ है ; इस प्रकार के चरित्र कहां हैं ? बनावट में यह वास्तविकता कहां ? घुटन में यह शान्ति कहां ?

मेरी छुट्टी एक सप्ताह शेष थी। जी करता था, पूरा सप्ताह प्रेमकिशोर के साथ बिता दूं। लेकिन उसकी खातिरदारी से डरता था। वह नाश्ते पर बुलाता था, मगर लंच और डिनर करवाए बिना नहीं छोड़ता था। वापसी के समय मौसमी फलों या घी-दूध के तोहफे भी नत्थी कर देता था।

वह ग्राम-पंचायत का सक्रिय सदस्य था। गांव में दहेज़ लेने-देने और सामाजिक रस्मों पर फिज़ूलखर्ची के विरुद्ध था। मुकदमेबाज़ी और बरसाती मेंढकों-जैसी आबादी को देश के लिए घातक समझता था। 'हमसाया मां का जाया' के अनुसार, पड़ोसी को वह सगे भाई से ज़्यादा चाहता था।

अपनी दो छुट्टियां मैंने अपने एक भांजे की सगाई के सिलसिला में बिता दीं। तीसरे दिन गांव में पांव रखते ही जैसे मैं पागल हो गया। देह पत्ते की तरह कांपने लगी। सीने में जैसे किसी ने कील गाड़ दिया।

पता चला, प्रेमकिशोर का पिछली रात को स्वर्गवास हो गया है। अचानक दिमाग की नस फटने से वह चल बसा।

लगभग उड़ता हुआ मैं प्रेमकिशोर के घर पहुंचा। वहां प्रलय मची हुई थी। शव ऐसे पड़ा था जैसे अभी उठकर गले मिलेगा। लेकिन नहीं। वह लहर की तरह हमारे जीवन में आया और झाग की तरह बैठ चुका था। अकेला ही सारे गांव को वीरान कर गया था।

संस्कार की तैयारी होने लगी। कप्तान लड़के का इंतज़ार था। तार दे दिया गया था उसे। दुपहर तीन बजे वह भी आ पहुंचा। वह लंगड़ा रहा था।

जनाज़ा उठा, तो हर आंख सजल थी। सारा गांव फफक-फफक कर रो पड़ा। लेकिन प्रेमकिशोर के दोनों बेटों की आंखें खुश्क थीं। उनके चेहरे कागज़ की तरह सफेद थे।

आखिर बड़े लड़के ने हाथ जोड़कर शवयात्रियों से कहा—"बापू को विदा करते हुए रोइए मत आप लोग। उनके जन्म पर खुशी मनाई थी; जाते समय भी गमी नहीं होगी। हम लोगों पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा है, लेकिन बापू का उपदेश हमारी नस-नस में है। परमात्मा के फैसलों से अभी हम निराश नहीं हुए हैं। मौत कोई गाली नहीं है। हमने जीवन में कभी निराश न होने का पाठ पढ़ा है!"

दुःख की उस हृदयविदारक घड़ी में भी मुझे महसूस हुआ कि प्रेमकिशोर मरा नहीं है। उसके दोनों बेटे प्रेमकिशोर के रूप में हम सबके सामने खड़े थे!

———

हस्ताक्षर नए···नए···

उन्मुक्त जीवन

—जया शर्मा

मैंने अपनी दीवार पर कील से
जड़ लिया है समय को,
रोज शाम सूरज मेरे कैलन्डर का
एक दिन फाड़ देता है और मैं
अपने इतिहास में, अनुभव का
नया पृष्ठ जोड़ लेती हूं।

इतिहास, धर्म और सभ्यता का
भारी लबादा ओढ़े
मैं कब से समय को
पीछे से पकड़ने की कर रही हूँ
नाकाम कोशिश
और समय सदा ही
उस मेहनतकश के साथ रहा है
जिसने
उगते हुए सूरज के साथ उसे
सामने से थाम लिया।

और फिर श्रम से
मापता रहा दिनमान
हर सुबह उसके लिए

नए साल का पहला दिन है
और सांझ
इकतीस दिसम्बर।

वह वर्षगांठ और जन्मदिन की
सन्धिबेला में उदास नहीं होता
क्योंकि
इतिहास का बोझ
उसने अपने सर नहीं लिया
उसने जिन्दगी का रस
छक कर पिया है
वह समय के साथ
उन्मुक्त जिया है।

———

पुस्तकें और पुस्तकें

•

समकालीन लेखन के संदर्भ में आलोचना या समीक्षा जितनी निरर्थक वस्तु बन चुकी है उतनी शायद कभी न बनी हो। इसकी बड़ी वजह साहित्य में व्याप्त हो जाने वाली गुटबंदी की प्रवृत्ति ही अधिक प्रतीत होती है। उठा-पटक की आलोचना-पद्धति की वजह से लेखन का न सही रूप सामने आ पाता है और न ही उस पर सही बहस हो पाती है, बहुत ही गिनती के समीक्षक होंगे जो किसी की कृति को बिना पूर्वग्रहों के समझने का प्रयत्न करते हुए विश्लेषण करते हैं। वर्ना निर्णय तो उनकी जेब में पहले ही से होता है, एक खास भाषा भी। बिना पूरा साहित्य पढ़े हुए ही वे यह निर्णय करने का अधिकार भी रखना चाहते हैं कि इस समय क्या श्रेष्ठ लेखन है और क्या अश्रेष्ठ। तब समीक्षा का क्या महत्व है? मैं समझता हूं किसी भी समीक्षक की कोशिश रचनाकार की उस ताकत को रेखांकित करने की होनी चाहिए जो वह कृति में दे रहा है। तभी कुछ सही काम हो सकता है। इस दृष्टि से देखने के बावजूद यदि ताकत नज़र नहीं आती तो उसका उल्लेख करना चाहिए वर्ना उन बिन्दुओं की तलाश करनी चाहिए जिनको लेखक कालांतर में उभार कर अपनी ताकत बना सकता है। समीक्षक का मूल काम कृति के माध्यम से कृतिकार तक पहुंचना, उसे समझना होता है। इसी यात्रा में वह रचना के विश्लेषण से उसके अन्य उद्देश्यों की भी पहचान करता है। साथ ही, यह भी, कि अच्छा समीक्षक कृतिकार को उसकी गतिशीलता में पकड़ता है, जड़ता में नहीं। रचनाकार के सम्बंध में मेरी यह धारणा है कि जो रचनाकार अपने समय के लिए प्रासंगिक रहते हुए जितना ही अधिक अपने लिए लिखता है वह उतना ही अधिक कालांतर में भी प्रासंगिक रहता है।

इसी भूमिका के संदर्भ में मेरी आलोच्य पुस्तकों पर दी गयी राय को ग्रहण किया जाना चाहिए। यहां दोनों पुस्तकों को तुलनात्मक दृष्टि से एक साथ समीक्षित करने तथा उन्हें अलग-अलग, उनके अपने-अपने परिवेश में समझने-परखने का प्रयास किया गया है।

आग जल रही है[1] बलनील देवम् के तीन प्रकाशित संग्रहों में से दूसरा है। पूरा पढ़ जाने के बाद यह संग्रह प्रेम की आग से भरपूर कविताओं के संग्रह के रूप में अधिक टिकता है।

---

१. **आग जल रही है, बलनील देवम्, प्र० सं० १९८०, २० रुपये, निस्तंद्र प्रकाशन, जम्मू।**

और यह स्थिति मुझे सुखद लगी है। समकालीन कविताओं में 'प्रेम' को अजीबोगरीब ढंग से अभिव्यक्त किया गया है लेकिन यहां उसे एक पूरी ललक के साथ भोगने की स्थिति है। इनमें तन्मयता है और आवेग भी। प्रेम जब अपनी ही पहचान, अपना ही स्वरूप बनकर उभारता है तो प्रेमियों के बीच 'मैं' शब्द दुनियावी हो जाता है। वे एकमएक होकर एक दूसरे को पूरी तरह महसूस करते हैं। प्रेम-पात्र के बिना सभी कुछ निरर्थक लगने लगता है : 'समन्दर / और आकाश और वह मंदिर / आते हैं जब याद / मैं निस्तब्ध निहारता हूं चांदनी को / वह बढ़ती है प्यार करने के लिए / और मैं मुंह मोड़कर कर लेता हूं आंखें बंद / कैसे करूं उसे प्यार / तुम्हारे न होने से / मैं इस काबिल ही नहीं रहा।'

देखने की बात यह है कि ये प्रेम-कविताएं भावुक-आलाप नहीं हैं बल्कि प्रेम के जीवन्त रूप की आग का चित्रण हैं। इनमें कुछ-कुछ वैसी ही तन्मयता का आभास मिलता है जो भक्तिकाल के कवियों में पूरी तरह ऊंचाई के साथ मिलता है। ये कविताएं उर्दू शैली के निकट की भी लग सकती हैं जिससे उनमें व्यक्त प्रेम ईश्वरीय और मानवीय दोनों ही रूपों में लिया जा सकता है। मुझे खुशी है कि यह कवि प्रेम की गहन अनुभूतियों के क्षणों को भी कविता में बांध सका है और समकालीन कविता में इस दृष्टि से आ रहे अभाव को थोड़ा-बहुत भर सका है। ऐसा ही कवि प्यार की इस सहज कसौटी को समझ सकता है—'प्यार की कसौटी / इस सीधे-सादे आत्मसमर्पण / और तुम्हारे मासूमियत भरे ग्रंदाज में / स्वीकार लेने से बढ़ कर कहां।' और इस समझ के बाद यदि उसे अपने प्रेम-पात्र की बेइन्तहा याद आती है तो उसे भावुकता मात्र नहीं समझना चाहिए—'खत पर लिखा मेरा नाम / ग्राग की तरह जल रहा है / आज मुझे फागुनी धूप/अपने प्राण लग रही है/और तुम / बेइन्तहा याद आ रही हो।'

कुछ लोग कह सकते हैं कि आजकल तो प्रेम के नाम पर न जाने क्या-क्या होता है, प्रेम तो मात्र चाय की चुस्की की तरह हो गया है तब इस प्रकार के प्रेम की कल्पना क्या ग्रयथार्थ नहीं होगी। मेरा निवेदन यह है कि हमें देखना यह है कि प्रेम की सही स्थिति क्या है और यदि वर्तमान में प्रेम को एक गलत परिभाषा दे भी दी गयी तो उसके प्रति वचनाकार की दृष्टि क्या है—यानी वह उसे किस रूप में देखना चाहता है। यह रचनाकार भी यदि प्रेम की गलत परिभाषा के साथ ही बह गया होता तो जरूर दिक्कत होती।

प्रेम कविताओं के अतिरिक्त इस संग्रह में कुछ कविताएं ऐसी भी हैं जो देश की राजनैतिक व्यवस्था के प्रति विक्षोभ प्रकट करती हैं और कुछ ऐसी हैं जो इस व्यवस्था में जी रहे संघर्ष-चेता व्यक्ति (आग) की शक्ति की पहचान कराती हैं। इन कविताओं के माध्यम से, क्षीण रूप में ही सही, यथास्थिति के गलत और भयावह रूप को भी चित्रित किया गया है और यथास्थिति में ही जीते रहने की दृष्टि का तिरस्कार करते हुए उस यथार्थ को भी चित्रित किया गया है जो वास्तव में संघर्षचेता व्यक्ति ही देख पाता है। यथास्थिति को चित्रित करते हुए यथार्थ की तलाश में संघर्ष की भाषा का उपयोग करना ही मुझे कविता में उपयुक्त लगता है। ऐसी कविताएं ही संस्कार दे सकती हैं। केवल नारेबाजी वाली कविताओं का कोई साहित्यिक महत्त्व

मुझे तो नज़र नहीं आता । इसी प्रकार केवल यथास्थिति में जी रहे व्यक्ति का नैराश्यपूर्ण भययुक्त चित्रण भी गलत दृष्टि का ही परिणाम होता है । बलनील देवम् ने सही दृष्टि का परिचय दिया है हालांकि व्यापक अनुभव की दृष्टि से अभी उन्हें बहुत सम्भलना होगा । रचना में केवल सही समझ देना ही पर्याप्त नहीं होता बल्कि अपने समय में किए गए अधिक से अधिक अनुभवों को भी सामने लाना होता है । यथास्थिति की तमाम गुत्थियों, विसंगतियों-संगतियों को उस समझ के आलोक में देखकर सामने लाना होता है । वर्ना कविता हाथ से निकलने का भय रहता है । देवम् इस कमी की ओर जरूर ध्यान दे लेंगे, मेरा विश्वास है क्योंकि उन्होंने समझ लिया है कि आदमी के हक के लिए लड़ना होता है और विरोधियों की साजिशों को समझना होता है । तभी वे यह भी कह सके हैं—"यह गला-सड़ा / विक्षिप्त / अकर्मण्य / लिजलिजा इतिहास / ले जाओ उठाकर / और फैंक दो सूर्य की भट्ठी में ।" असल में, ऐसा इतिहास ही तो यथास्थिति बरकरार किए हुए है । लेकिन जब सही इतिहास की मांग होती है तो निश्चित रूप से यथास्थिति की चूलें हिल जाती हैं । और सही इतिहास वह होता है जिसमें 'रक्त के निशान हैं, गौरवशाली प्रेम कथाओं की शाश्वत् खुशबू है, नीले आकाश की अनन्तता है और महान जीवन तत्व है । यही इतिहास तो अन्याय के विरुद्ध लड़ने की प्रेरणा देता है, जीवन के प्रति आस्था जगाता है ।

इस संग्रह की दो कविताएं 'चलो' और 'लौट चलें जंगल की ओर' ऊपरी तौर पर पलायनवादी लग सकती हैं क्योंकि इनमें कवि सभ्यता और समाज के विष से भाग कर जंगलों और कन्दराओं में जाकर खुली जिन्दगी जीने की सलाह देता है । यदि इन कविताओं का यही आशय है तो वह गलत है । लेकिन मैं समझता हूं यहां कवि का आग्रह एक ऐसे समाज का निर्माण करने का है जिसमें व्यक्ति स्वतंत्र रह सके, किलकारियां मारते हुए भयमुक्त रह सके । ऐसे समाज के लिए ही तो 'घोड़ों पर बैठी आग गलत लोगों और उनके द्वारा फैलाए जा रहे अंधेरों को कुचलने का मौका तलाश रही है ।'

अंत में एक बात और कि कविता की भाषा सरल होकर भी कृत्रिम हो सकती है । इसीलिए कोशिश यह की जानी चाहिए कि जहां तक हो सके जीवन्त भाषा यानी बोलचाल की भाषा को काव्य-भाषा बनाया जाए । इस संग्रह में भाषा का बहुत बिखराव है । शब्द ही नहीं, वाक्य के वाक्य फालतू हैं । पत्रकारिता की भाषा शैली से बचा जाना चाहिए था । संप्रेषणीयता का ताल्लुक केवल सरल भाषा से नहीं होता— यानी मात्र सरल शब्दार्थ मात्र से नहीं होता ।

●

आहत चीड़ें[२] अशोक जेरथ का पहला कविता-संग्रह है । कवि के अनुसार इस संग्रह में उसकी तीन मनःस्थितियों की अभिव्यक्ति हुई है : एक स्वप्न या आकर्षक कल्पना में जीने की मनःस्थिति, दूसरी कुछ बेवसी और कुण्ठा के अहसास लेते हुए भी पूरी तौर पर पलायनवादी न होकर नियति के वश या आसरे में चलने की मनःस्थिति और तीसरी जड़ता की ओर जाने के

---

२. आहत चीड़ें, अशोक जेरथ, प्र० सं० १९७९, ८ रुपये, निस्तंद्र प्रकाशन, जम्मू ।

अहसास की मनःस्थिति । इस संग्रह की कविताओं को मैंने कवि के उक्त वक्तव्य से अलग रह कर भी समझने की कोशिश की है ।

मुझे ये कविताएं गीत-विधा के अधिक निकट जान पड़ी हैं । इनमें तुकों के प्रति तो अतिरिक्त मोह नज़र आता ही है, दोहराव भी काफी है अतः पंक्तियों की पक्तियां फालतू नज़र आती हैं । कहीं-कहीं गद्यात्मकता बुरी तरह हावी नज़र आती है । मेरे ख्याल में गीतों को कविता में ढालने की बजाए गीत ही रहने दिया जाता तो शायद यह दुर्दशा न हुई होती । इन रचनाओं की भाषा काफी हद तक कमज़ोर है—जीवन से कटी हुई पुराने संस्कारों की । इसके लिए शायद अनुभव-ताप की कमी ही उत्तरदायी है ।

कुछ कविता-पंक्तियां ऐसी जरूर हैं जो पाठक को पकड़ती हैं । लोकराज, तुम्हारे मेरे विश्वासों की डगर, विडम्बना आदि कविताओं को इस दृष्टि से देखा जा सकता है ।

कुल मिलाकर ये कविताएं निराशाजनक स्थितियों के चित्रण को ही प्रस्तुत करती हैं । कहीं-कहीं मार्मिक चित्रण भी है और उनसे उबरने का प्रयास भी दिखाई पड़ता है किन्तु वह बहुत क्षीण है । इसीलिए ये कविताएं समकालीन कविता की केन्द्रीय प्रवृत्ति से दूर जा पड़ती हैं । ये कविताएं 'जो है बस उसे जीते जाओ' की समझ ही अधिक देती हैं । अधिक से अधिक, पाने के लिए याचक स्वर मिल जाएंगे—'और नहीं चाहिए कुछ, थोड़ी सी भोर दे दो / अन्तर में जलने के लिए पीड़ा / थोड़ी और दे दो ।' संघर्ष तो जैसे गायब ही है । अपने अन्दाज़ में ये कविताएं 'रोमेंटिक' लगती हैं ।

कुछ बिम्बों और वर्णनों की वजह से यह जरूर कहा जा सकता है कि इन कविताओं में कश्मीर की खुशबू मिलती है ।

कोई भी कवि, मेरे ख्याल में, बेहतर तभी लिख सकता है जब वह इस बात का भी ध्यान रखे कि वह अपने साहित्य की विरासत में कितना कुछ सार्थक जोड़ रहा है या जोड़ने की कोशिश कर रहा है । खैर कवि का यह पहला संग्रह है अतः आगे अभी बहुत गुंजाइश है ।

—दिविक रमेश
बी–५७, अमर कालोनी, लाजपत नगर, नई दिल्ली–११००२४

आपकी बात

★

★ शीराज़ा अपने गेट-अप, सामग्री और स्तर के लिहाज़ से 'चढ़दी कला' पर है। एक लंबी योजना तथा सूझबूझ उसके पीछे झलकती है। बधाई !

—रमेश कुंतल मेघ

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर

★ 'शीराज़ा' (जून-जुलाई १९८०) मिला। धन्यवाद। 'समकालीन कहानी : आंचलिक परिवेश' अच्छा आकलन बन पड़ा है। 'यशपाल की प्रेम भावना' के माध्यम से एक सुलझी हुई लेखिका की ओर संकेत मिलता है, लेखिका को बधाई दें। मध्यवर्ग की बिखरी हुई पीड़ाओं को समेट कर प्रस्तुत करने की यत्नसाध्यता के कारण 'शेष सत्य' में छुअन की गहराईयां छूट गई हैं। 'व्यवस्था के प्रति आक्रोश का कवि—धूमिल' तथा 'विराट काव्य के रचयिता—गजानन माधव मुक्तिबोध' निबन्धों में बार-बार आवृत्तियां पाने वाले काव्य ग्रंशों को ही लिया गया है जिससे कवियों की रचनाधर्मिता के प्रति कुछ नया उभर कर नहीं आ पाया। सुजाता गुप्ता, उपेन्द्र रैणा तथा दिविक रमेश की कविताओं ने विशेष प्रभावित किया। कुल मिलाकर शीराज़ा का यह ग्रंक अपनी उच्च परम्परा पर टिका हुआ है। बधाई।

—राज कुमार

प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

★ शीराज़ा के इधर के ग्रंक देख रहा हूं। आप उसको सुन्दर और समृद्ध बनाने के लिए काफी परिश्रम कर रहे हैं। मुझे विश्वास है कि कुछ ही दिनों में आपकी पत्रिका को वही सम्मान मिलेगा जो हिन्दी की बहुत अच्छी पत्रिकाओं को मिल रहा है। विश्वास है आप इसी प्रकार 'शीराज़ा' की प्रगति के लिए प्रयत्नशील रहेंगे।

—चन्द्रकांत बांदिवडेकर

७, शाकुंतल, साहित्य सहवास, बांद्रा (पूर्व), मुम्बई—५१

★ 'शीराज़ा' का प्रेमचंद अंक यहां बहुत चाव से पढ़ा गया और उसकी बहुत प्रशंसा हुई। 'शीराज़ा' हिन्दी की श्रेष्ठतम पत्रिकाओं की पंक्ति में आ गई है।

—विवेकी राय

बड़ी बाग, गाजीपुर, उ० प्र०

★ शीराज़ा का नया अंक मिला। शौक से पढ़ गया। लेकिन हाथ में महज़ शोक रहा। शोक इस पर कि लेखों में सतही पिष्टपेषण हुआ है। आशा है आपके लेखक शीराज़ा के लिए अपनी रचनाएं भेजते समय शीराज़ा के स्तर को बनाए रखने का ध्यान रखेंगे।

—डॉ० सुरेन्द्र

चिकित्सा अधिकारी, विश्नाह (ज० क०)

★ अपने बहुत सगे दोस्त डॉ० आदर्श के लेख पर कुछ कहना चाहता हूं। धूमिल जैसे कवि पर लिखना बड़े साहस का काम है खासकर उनके आक्रोश को आलोचना की कसौटियो पर कसना। व्यवस्था के प्रति आक्रोश का ही कवि तो था धूमिल। इस आक्रोश से अलग क्या है उसमें कि डॉ० आदर्श को धूमिल के लिए एक विशेषण तलाशना पड़ा ? मैंने सोचा था डॉ० आदर्श धूमिल की भाषा और उसके बिम्बों की गहनता पर प्रकाश डालेंगे। ऐसा हुआ नहीं उलटे मेरे हाथ निराशा लगी है। **हर तरफ धुआं** है में डॉ० आदर्श को 'हर तरफ' के प्रयोग से शिकायत है मगर शैली वैज्ञानिक अध्ययन से विदित होगा कि इस शब्दावली का प्रयोग धुएं और कुहासे के घटाटोप को बेतरह सर्वव्यापी बना देता है। डॉ० आदर्श जैसे कवि को मैं कैसे बताऊं कि 'आवाज़' सिर्फ सुनी नहीं जाती, पी भी जाती है, देखी भी जाती है, उसका स्पर्श भी किया जाता है और उसे सूंघा भी जाता है। 'लोहे की आवाज़' से 'खून के रंग' को पाने के लिए उस मनःस्थिति को जीना पड़ेगा मेरे दोस्त !

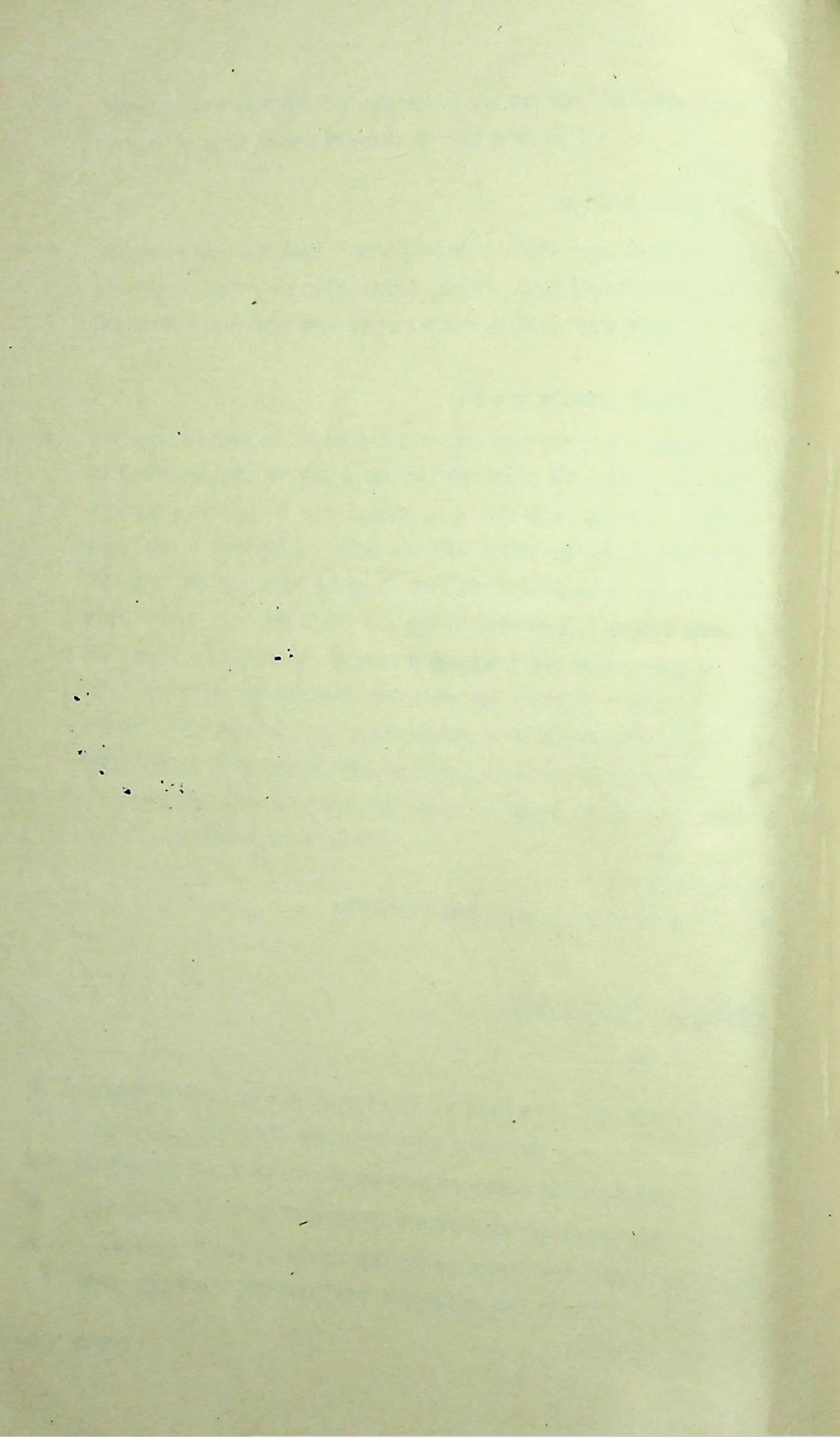
—डॉ० ओमप्रकाश गुप्त

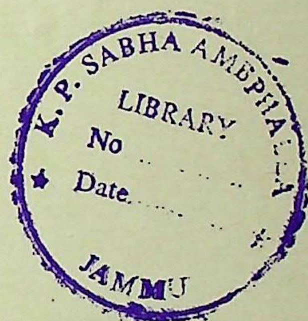
स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

अकादमी डायरी

●

- स्वतंत्रता दिवस की पूर्व संध्या के अवसर पर १४ अगस्त १९८० को अभिनव थियेटर, जम्मू में एक सर्वभाषा कवि सम्मेलन का आयोजन किया गया।
- २१ सितम्बर, १९८० को बटोत में एक सांस्कृतिक संध्या आयोजित की गई।
- २३ सितम्बर, १९८० को किश्तवाड़ में लोक-संगीत समारोह करवाया गया।
- २८ सितम्बर, १९८० को अभिनव थियेटर में युवा कवियों का सम्मेलन हुआ जिसमें हिन्दी, उर्दू, पंजाबी और डोगरी भाषाओं में कविताएं पढ़ी गईं।





Regd. No. 28871/76 Sheeraza Hindi *Bi-monthly' Sept. 1980*



A Publication of :
J&K Academy of Art, Culture & Languages, Jammu.
Printed at Amar Art Press, Moti Bazar, Jammu.